रति प्रिया

श्रीगोपाल आचार्य

शश्वद् योषिदधिष्ठान योषित्प्राणाधिकप्रिय ।
योषिद् वाहन योषास्त्र, योषिद्वन्धो नमोस्तुते ।।
तव साध्याश्च बाध्याश्च, सदैव पंच भौतिकाः ।
पंचेन्द्रिय कृताधार, पंचवाण नमोस्तुते ।।

—ब्रह्मवैवर्त पुराण : श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय ३१

प्राक्कथन

'रतिप्रिया' भारतीय 'कामशास्त्र' से सम्बन्धित एक उपन्यास है। वात्स्यायन के समय का भारत आज का भारत नहीं है। काम-संस्कृति भी अपने प्राकृतिक प्रवाह में, समय-समय पर, समय के साथ, परिवर्तित हुई है। वेदों के समय की नारी स्वतन्त्र थी। वह 'सोमरस' पीकर गाती थी, नाचती थी और बेसुध होकर नग्न अवस्था, अर्द्ध-नग्न अवस्था में सामाजिक पण्डाल में गिरकर सो भी जाती थी। वात्स्यायन के समय व उसके पूर्वकाल में भी तीसरी शताब्दी के पूर्व व आस-पास पुरुष व नारी के यौन सम्बन्ध संकुचित नहीं हुए थे। समाज में विवाह इतर यौन विद्यमान था, क्षम्य था।

महाकवि कालिदास के काल मे भी यौन-चर्चा को अप्रासंगिक व असामाजिक नहीं समझा जाता था। परन्तु सम्राट् हर्ष व बाण के काल तक वैवाहिक आदर्श यौन सम्बन्धों पर हावी हो गया। अब तक पौराणिक युग आ चुका था। ब्रह्मवैवर्त पुराणों ने नारी की पवित्रता को, उसके पातिव्रत्य को, उसके गुणों की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, सर्वोपरि माना। उसके अभाव में वह नरक की अधिकारिणी मानी गयी।

बारहवीं शताब्दी मे कोकोक अथवा कोक ने वैण्यदत्त के लिए रति रहस्य यानि 'कोकशास्त्र' की रचना की। पूर्व के प्रचलित यौन सम्बन्धों पर उसने प्रकाश डाला। समाज मे तब तक विवाह का आदर्श प्रतिष्ठित हो चुका था। उन्मुक्त यौन सम्बन्धों को विवर्जित मानते हुए भी कतिपय विकट मानसिक परिस्थितियों मे कवि कोक ने अनैतिक माने जाने वाले यौन सम्बन्धों को विवर्जित स्वीकार नहीं किया। पर, साथ ही यह भी सत्य है कि कोक की रचना 'कोकशास्त्र' देश के आम पुरुष के लिए

नहीं लिखी गयी थी, बल्कि, विवाह सूत्र मे बँधे पति-पत्नी के लिए उसका यह कृतित्व था।

कवि 'कोक' के बाद भी अनेक कवि और लेखक काम विषय को लेकर लेखन मे प्रवृत्त हुए। कल्याणमल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अनंग रंग', कोक के 'रति रहस्य' के बाद सम्भवतः सत्रहवी शताब्दी मे लिखा गया। इसके पूर्व ज्योतिरीश्वर कवि शेखर का 'पंच सायक' तेरहवी सदी के उत्तरार्द्ध में, स्मरदीपिका चौदहवी शताब्दी में, जयदेव की 'रति मंजरी' पंद्रहवी शताब्दी मे, दिनालापनि का 'शुकशप्तति', 'शृंगार दीपिका', वीर भद्रदेव की 'कंदर्प चूडामणि' आदि ग्रन्थो की रचना हो चुकी थी। इनके अलावा भी पद्मश्री ने 'नगर सर्वस्व', व्यास जनार्दन ने 'काम प्रबोध', महाराज देवराज ने 'रतिरत्न प्रदीपिका' और नागार्जुन सिद्ध ने 'रतिशास्त्र रत्नावलि' की रचना की।

कहने का तात्पर्य इससे इतना ही है कि, भारतीय वाङ्मय ने काम या यौन को अपने इतिहास मे कभी ऐसा विषय नही माना जिस पर कला और सस्कृति की दृष्टि से चर्चा न की जाय, बल्कि, सामाजिक व वैयक्तिक जीवन के समुचित उपभोग व आनन्द के लिए उसने इसे परमावश्यक भी समझा। धर्म, कला, साहित्य मे इसकी व्यवहृति समाज और व्यक्ति के उत्सादन की दृष्टि से की गई है। आर्य संस्कृति में काम जीवन का प्राप्य उद्देश्य स्वीकारा गया है।

प्रस्तुत 'रतिप्रिया' समाज और व्यक्ति के उत्सादन के लिए ही एक सांस्कृतिक और कलात्मक प्रयास है जिससे आदर्शों और नैतिकता के मूल्यों में बँधे गृहस्थ भी काम को श्रेय समझते हुए जीवन मे उसका आनंद ले सकें। आज तक के कामशास्त्रियों के विचारों का संक्षिप्त सार इसमे समाविष्ट किये जाने की चेष्टा की गई है।

गजनेर लेक रोड, बीकानेर
१ जून, ८०

—श्रीगोपाल आचार्य

रतिप्रिया

भय भंजना वन्दना सुन हमारी।
गीतों के फूलों की माला बना कर,
मैं लाई हूँ दिल, आरती में सजा कर,
यह साँसों की सरगम करूँ तेरे अर्पण,
मैं और क्या दूँ, जो ठहरी भिखारी।
भय भंजना वन्दना सुन हमारी।

चित्रपट के किसी गीत की आखिरी ध्वनि के साथ ही तरुणी का मस्तक वन्दना में जुड़े हाथों को स्पर्श कर गया। कुछ क्षण वह अपने ध्यान में इसी मुद्रा में रही। फिर उसने मूर्ति के सामने घुटने टेक दिये। हाथ फैलाने पर पुजारी ने उस पर चरणामृत और तुलसी रख दी। श्रद्धा से पान करके उसने अपना हाथ अपने सिर पर फेरा। पुनः उसने एक बार और हाथ जोड़े और वन्दना में सिर झुकाकर वह उठकर सीधी मन्दिर के बाहर आ गई।

"क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ?" प्रश्न एक अधेड़ पुरुष का था। तरुणी ने क्षण-एक के लिए उसकी ओर देखा। पूछा, "क्यों?"

"मैं आपके गीत और वाणी से प्रभावित हुआ हूँ।"

तरुणी के होठों पर हल्की-सी स्मिति छा गई। वह कुछ कहना चाहती थी, उसके पहले ही उसने सुना, "मैं एक कला-प्रेमी शिक्षित पुरुष हूँ, देवीजी।"

"मैं देवी नहीं हूँ, महाशयजी!"

"कुमारी सही।"

"आपको धोखा हो रहा है। आप जैसा जो समझते हैं, वह मैं नहीं हूँ, श्रीमानजी!"

"क्या मतलब?"

"मेरा मतलब गृहस्थी से है।"

"ओह!···पर उससे क्या?"

"परदेशी हैं?"

"नही तो।"

"फिर भय नही है?"

"किसका?"

"इसी अपने समाज का।"

"अपने समाज से मै सुपरिचित हूँ।"

"फिर आप मेरे पीछे आ सकते है।"

और इतना कह वह उसके आगे चल दी। पुरुष पीछे हो लिया। रास्ता कुछ लम्बा ही था। पुरुष ने देखा कि राहगीर उस तरुणी की ओर दृष्टिपात किये बिना आगे नही बढ़ सकते थे। यौवन, लावण्य, सौन्दर्य उसमें कुछ ऐसा था कि आँख न चाहने पर भी उसकी ओर उठ जाती थी। वह सड़क की शोभा थी; पथ का सौन्दर्य थी। पीछे चलते पुरुष ने महसूस किया कि उस रमणी की एक अलग आभा है, एक अलग अपना अधिकार है, उसकी गरिमा के सामने अपने को तुच्छ पाकर लोग उसके पास पहुँचने का साहस नहीं कर सकते थे। उसके आवास के पास पहुँचते तो उसका यह अहसास और भी अधिक मजबूत हो गया। संकीर्ण गली के एक मकान के खुले द्वार पर रुककर उसने पीछा करते हुए पुरुष से कहा—

"आइये! यही इस नाचीज की झोंपड़ी है।"

"अन्दर चलने में आपत्ति तो नही है?"

"मैं स्वयं जो आपसे प्रार्थना कर रही हूँ।"

"धन्यवाद।"

"पहले आप।"

"जैसी आज्ञा।"

आवास में प्रवेश करने पर पुरुष ने देखा कि एक अधेड़ औरत घर के आँगन को साफ कर रही है। तरुणी के आने का भान होते ही उसने कहा—

"अरी रति! आज बहुत देर लगा दी।"

"देर तो नही हुई, माँ।"

"मैं भी यही कहती हूँ; पर, तेरा वह कामदेव तो किसी प्रकार मानता ही नही है। इस आध-पौन घटे मे कम-से-कम पचास वार पूछ चुके हैं कि अव तक क्यों नही लौटी? दर्शन करते कौन से घटो लगते हैं? आँखें खोली, दर्शन हुए। आँखें वन्द की, ध्यान हुआ। इनमे कैसा विलम्व? मैंने कहा, अभी तो गई है; अभी आ जाती है। पर, धैर्य किसे? कहने लगे, तुम सामने जाओ। मालिक का मालिक कौन, बेटी? यदि पाँच मिनट और नही आती, तो मुझे सामने आना ही पडता। आदमी तो वहुत देखे है, पर ऐसे आदमी···।"

अव तक वह अपने हाथ के काम मे व्यस्त थी, परन्तु ज्योंही उसने आँख उठाई, उसकी दृष्टि नवागन्तुक पर पड़ी। उसने अपने वस्त्र ठीक किये। वोली, "आप।"

"मेरे साथ आये हैं। मन्दिर से ही।···परिचय प्राप्त करने के लिये।" अधेड नारी ने आगन्तुक को सिर से पाँव तक एक क्षण मे ही देख लिया। उसकी दृष्टि उसके चेहरे पर आरोपित हो गई। उसने सुना, "मैं एक प्रवासी हूँ। राजस्थान के इस हिस्से में, आपकी इस बीकानेर नगरी में, आने का पहला ही अवसर है।"

"आपका स्वागत है। माफ कीजियेगा, आपके स्वागत के योग्य तो यह झोपडी नही है, परन्तु, जैसे हम नाचीज हैं, उसे देखते हुए आप हमारे अभावो पर ध्यान नही देंगे। इतना विश्वास अवश्य दिलाती हूँ कि भावना की कोई कमी नही होगी।···रति! देखती क्या है? अतिथि देव के योग्य कमरे मे आसन तैयार कर। बैठकर वात कर, तव तक मैं चाय तैयार करके ले आती हूँ।"

कमरा ऊपर की मंजिल मे था। अब रति पैड़ियों पर पहले चढ़ने

लगी। आगन्तुक एक सम्मानपूर्ण दूरी से, उसके पीछे हो लिया। क्षणों में ही एक कमरे के द्वार पर वे पहुँच गये। कमरे में एक तरुण पहले से ही आसीन था। दो को, विशेष कर, आगन्तुक को देखकर वह अपने आसन से उठ बैठा। आग्रह के साथ उसने उसे एक विशिष्ट स्थान पर बिठा दिया। आगन्तुक के आसीन होने के बाद उसके मुँह से शब्द निकले, "आप भी बैठिये, देवीजी। मैं एक मिनट में हाजिर हुआ। तब तक आप मेरी गैरहाजिरी को माफ करेंगे।"

"अरे, बैठिये तो, जनाब।"

"मैंने अर्ज किया कि अभी हाजिर होता हूँ। आप अपना ही घर समझिये और इतना कहने के बाद उसने और इन्तजार नहीं किया। जैसे ही वह कमरे के बाहर निकला, आगन्तुक के मुँह से शब्द निकले, "बड़े सुसंस्कृत हैं। ऐसे व्यक्तियों से मिलने में भी मजा आता है। आपकी तारीफ?"

"अभी तो इन्हें इसी घर का एक सदस्य ही समझिये।"

"मालिक?"

"हाँ, मालिक ही हैं।"

आगन्तुक ने देखा कि कमरे में एक विशिष्ट रुचि की सजावट की हुई है। विशाल खिड़कियाँ हैं; लोहे के चौपटों में शीशे जड़े हुए हैं। कमरे का रंग हल्का गुलाबी है। उन पर पर्दे भी मिलते रंग के ही हैं। कुछ तस्वीरें लगी हैं, जिनमें देवी सरस्वती की मुख्य है। कमरे के कोने में एक विशाल पलंग है; दो व्यक्ति उस पर आसानी से सो सकते हैं। सफेद चादर उसके ऊपर नीचे तक लटक रही है। कुछ तकिये भी यथास्थान रखे हैं। जिस आसन पर वह बैठा था, वह एक विशाल गद्दा था। उस पर भी स्वच्छ सफेद चादर आवरित थी। चार-पाँच मसनद भी किनारे सहारे के लिए सजे थे। दूर, दूसरे कोने में, एक छोटी मेज थी। उसके सहारे दो आराम कुर्सियाँ रखी थीं। उनके ठीक ऊपर खुली अलमारी में कुछ पुस्तकें व्यवस्थित रूप से सजी हुई थी। एक ओर दीवार की खूंटियों पर कुछ कपड़े टँगे थे। अन्य कोनों में व अन्य स्थानों पर नारी की सुन्दर मूर्तियों की सजावट थी। पलंग के पास एक मेज

थी, जिस पर एक बिजली का लैम्प सजा था। पास ही एक पुस्तक पड़ी थी। कमरे का फर्श दरी से ढँका था, परन्तु पलंग के सहारे के भाग पर एक कीमती गलीचा बिछा हुआ था।

आगन्तुक ने अपने क्षणों के दृष्टि-पात में ही कमरे का वातावरण हृदयंगम कर लिया। धूपवत्ती का धूम्र इस वातावरण को सजीव व सुवासित कर रहा था। इतने में ही कमरे में आवाज आई, "रतिप्रिये।"

नारी अपने स्थान से उठ खड़ी हुई। बोली, "शाय, उन्हें मेरी आवश्यकता आ पड़ी है; यदि कुछ क्षण के लिए इजाजत दें, तो देख आती हूँ कि क्यों बुलाया है?"

"अवश्य।" वह चली गयी। आगन्तुक ने महसूस किया कि कमरा उसके अभाव में, उसकी अनुपस्थिति में शून्य हो गया है। वह उठ खड़ा हुआ। पास जाकर वह किताबों की जिल्दों को देखने लगा। एक जिल्द खोलते ही उसकी आँखें उस पर से हट गई। उसके चेहरे पर विकृत रेखाओं की छाया छा गयी। उसने पुस्तक यथास्थान रख दी। दूसरी उठाई तो और भी अधिक निराशा हुई। तीसरी, चौथी, पाँचवी, सातवीं, दसवीं सभी को वह क्षणों में ही जाँच गया। विकृत रेखाओं ने उसके चेहरे को क्षुब्ध और उत्तेजित कर दिया। कुछ क्षण तो वह उन पुस्तकों के पास खड़ा रहा। अपने आसन की ओर उसके पाँव बढ़े ही नहीं। उसकी दृष्टि सरस्वती के चित्र पर क्षण-एक के लिए आरोपित हो गयी। आखिर, उसके पाँव बढ़े; परन्तु, कमरे के बाहर। जल्दी से पैड़ियाँ उतर कर वह सीधा सड़क पर आ गया। अपने विचारों में खोया हुआ वह लंबी सड़क पर अकेला बढ़ता चला गया।

१

बीकानेर रेल्वे स्टेशन से निकल कर कोट दरवाजे की तरफ जाने से बीच में सड़क के सहारे नागरी भंडार नाम की एक संस्था है, जिसमें देवी सरस्वती का एक भव्य मन्दिर है। सफेद संगमरमर से निर्मित एक बहुत ही सुन्दर मूर्ति इसमें स्थापित है। मन्दिर के साथ संलग्न एक पुस्तकालय भी है; परन्तु मुख्य मन्दिर के सामने का विशाल कक्ष वाचनालय के रूप में काम आता है और इसमें सुबह-शाम काफी लोग इकट्ठे नजर आते हैं। मां सरस्वती के दर्शन सब धर्म और जाति वालों के लिये खुले हैं और उनके अनेक तरह के सांस्कृतिक समारोह व सभाएँ इस मन्दिर के विशाल कक्ष में प्रायः होती रहती हैं। यही वह स्थान था जहाँ रतिप्रिया से एक कला प्रेमी पुरुष ने परिचय प्राप्त करने की अपनी अभिलाषा व्यक्त की थी। उस दिन से आज एक सप्ताह बीत चुका था। दोनों ही नित्य प्रति यहाँ आते थे, परन्तु उनका दृष्टि-मिलन इस बीच नहीं हुआ था।

आज अपने पूर्व परिचित पुरुष पर रतिप्रिया की दृष्टि पड़ी। वह वाचनालय की एक कुर्सी पर बैठा कुछ पढ़ रहा था। उसे देख वह उसके पास पहुँच गई। कुछ क्षण पास स्थित रहने के बाद पुरुष ने उसकी ओर देखा। सहज स्मिति रमणी के अधरों पर छा गई। अपने स्थान से उठते हुए पुरुष ने पूछा—"आप ?"

"जी।"

"हुक्म फरमाइये।"

"हुक्म तो बड़े आदमी देते हैं। मैं नाचीज तो प्रार्थना ही कर सकती हूँ।"

"फरमाइये।"

"आप उस रोज चले आये। हम लोगो से कुछ खता हुई ?"

"बिल्कुल नहीं।"

"फिर ?"

"मैं जो सोचता था, वह बात वहाँ नही थी।"

"सो तो मैंने आपको पहले ही कह दिया था।"

"मेरा स्वभाव और तबियत जरा अनिश्चित-सी ही है।"

"आखिर हम लोग भी तो इन्सान हैं। प्रतिष्ठित और भले आदमी यदि हम गिरे हुओं से इस तरह भागेंगे तो हमारा उत्थान फिर कैसे होगा? क्या आप चाहते हैं कि गिरे हुए कभी उठें ही नही? अच्छा सम्पर्क ही यदि नही हुआ तो उन्हें उठने का अवसर भी फिर कैसे मिलेगा?"

"आप क्या कहना चाहती है ?"

"सब कुछ तो मैं वहीं चल कर कहूँगी। इतना विश्वास अवश्य दिला सकती हूँ कि आपको वहाँ चल कर निराशा नही होगी। सत्कार और आतिथ्य का अवसर दिए बिना उठ कर चले जाना आतिथ्यकार का अपमान करना होता है। हम आपकी बराबरी के न सही, पर इन्सान तो है ही।"

"अच्छा तो मैं आऊँगा।"

"परन्तु कब ?"

"कल, परसों।"

"कल-परसो न जाने कब आए? जीवन में आने वाले एक क्षण का भी किसी को कोई पता नही। पिछला पूरा सप्ताह मुझे आपको इधर-उधर तलाशते बीता है।"

"फिर ?"

"अभी क्यो नही ?"

"आप चलिये, मैं आता हूँ।"

"बाद मे ?"

"हाँ।"

"साथ क्यो नही ? क्या सामाजिकता बाधक है ?"

"नही तो।"

"फिर ?"

"मुझे कुछ पढना है ।"

"मै इन्तजार कर लेती हूँ ।"

"मुझ पर विश्वास नही है ।"

"अपने भाग्य पर नही है । मुझे इन्तजार मे आपत्ति नही है ।"

"फिर आप वैठिये । अभी चलते है ।"

"दूर बैठूँ या यही पास बैठ सकती हूँ ?"

पुरुष ने सोचा उसके आचरण की परीक्षा हो रही है । बोला—"जहाँ आपका दिल चाहे ।" वह वही उसके पास बैठ गई । कुछ ही क्षणों मे पुरुष उठ बैठा । बोला—"चलिये ।"

मन्दिर से बाहर वे दोनों एक साथ निकले । रास्ते में उन्होने आपस में कोई बात नहीं की ।

अपने मकान के कमरे में आगन्तुक को आसीन कराने के बाद रतिप्रिया उसके सामने बैठ गई । एक क्षण के विराम के बाद उसने सुना :

"मैं बैठा हूँ । आप आवश्यक काम निपटा लीजिये ।"

"वादा करें कि फिर उठ कर नही चले जायेंगे ।" उसके होठों पर मुस्कुराहट थी ।"

"नहीं जाऊँगा ।"

"मैं चाय लेकर आती हूँ ।"

"तकल्लुफ की आवश्यकता नही है ।"

"तैयार ही है । मैं मन्दिर से आकर पहले चाय पीती हूँ ।"

"उसके पहले कुछ भी नही लेती ।"

"जी नहीं ।"

"कोई विशेष नियम ?"

"नियम नही, आदत है ।" और इतना कह वह नीचे चाय लाने चली गई । पुनः वापिस लौटने मे उसे देर न लगी । आई तो देखा कि आगन्तुक पुरुष पुनः उसकी किताबो को टटोल रहा है । मेज पर चाय का सामान रखते हुए उसने कहा—

"इसके लिए आप यदि चाहेंगे तो बहुत समय मिलेगा । पहले चाय

पीकर मुझे खुशी मनाने का मौका दीजिए।" पुरुष के आकर बैठते ही उसने पहले उसके प्याले को पूरित किया और फिर अपने पात्र को। उसने सुना—

"वे सज्जन आज दिखाई नहीं दिये।"

"हाँ।"

"क्यों?"

"वे यहाँ नही हैं; चले गये।"

"कहाँ?"

"कुछ कह नही गये।"

"क्यों?"

"कुछ बताया नही।"

"फिर भी?"

"क्या आप कुछ बता गये थे?" पुन. एक मुस्कराहट उसके होठों पर छा गई।

"वे और मैं·········।"

"एक जैसे नहीं है। यही तो?"

"हाँ।"

"आप पहले चाय नोश फरमाइये।"

"यह तो चलती रहेगी।"

"फिर पहले इसे ही चलने दीजिये।" दो-तीन घूँट पेय के गले से नीचे उतारने के बाद पुरुष पुनः बोल उठा—

"वे तो इस घर के मालिक थे। यही, शायद, आपने बताया था?"

"जी।"

"फिर भी आपको पता नही?"

"यह सही है।"

"बात समझ मे नही आई?"

"सब का सारा कुछ समझ मे नही आता है।"

"कोई रहस्य है। बताने में कुछ आपत्ति है?"

"न रहस्य है, न आपत्ति।"

"फिर ?"

"क्या कीजियेगा जान कर ?"

"महज उत्सुकतावश।"

"इस घर मे आने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसका मालिक होता है। हमारा भी। मेरी मजबूरी है कि पुरुष की प्रत्येक इच्छा के प्रति मैं सर्मापित नही होती। प्रत्येक पुरुष सयमशील भी नही होता। समाज मे रह कर स्वार्थ की पूर्ति भी सयम के अभाव मे सभव नही है।"

"फिर मैं भी······।"

"अभी नही। आप स्वय नही आये, आज तो मैं आपको लाई हूँ। आप अतिथि है। मैं आतिथ्यकार, मालकिन।" कुछ क्षण के विराम के बाद पुरुष ने पूछा—

"वे, जो उस रोज नीचे थी, आपकी मा है ?"

"यही समझ लीजिये।"

"मा नही है ?"

"क्यों नहीं ?"

"फिर समझ लीजिये का क्या मतलव है ?"

"जो समझ लिया जाय, वही ठीक होता है।"

"मैं वास्तविक सम्बन्ध जानना चाहता हूँ।"

"ऐसी क्या दिलचस्पी हो गई ?"

"जब आप में दिलचस्पी है तो आपके सपर्कों व सबन्धों मे भी दिलचस्पी होना स्वाभाविक है।"

"वे मेरी मा नही हैं। पर मैं उन्हे मां कहती हूँ। जवान औरत के कोई-न-कोई अभिभावक होना ही चाहिये। अच्छा है, पुरुष हो। पर यदि पुरुष न मिले तो फिर कोई औरत ही ठीक है।"

"आपके और कोई सवन्धी नही है ?"

"अब कोई नही है।"

"पहले थे ?"

"बहुत थे।"

"क्या हुआ उनका ?"

"बिछुड़ गये ।"

"जिन्दे है ?"

"जिन्दे तो है; होंगे ।"

"कहाँ है ?"

"दूर, बहुत दूर ।"

"फिर भी ?"

"बंगाल मे ।"

"किस जगह ?"

"क्या करेंगे जानकर ?"

"आपको वहाँ पहुँचा दूंगा ।"

"उसकी आवश्यकता नही है ।"

"क्यों ?"

"यदि जा सकती तो स्वय ही चली जाती ।"

"वे आपको ढूंढते होंगे । मैं उन्हें यहाँ भेज दूं ?"

"नही ।"

"आपको अभिभावक की आवश्यकता है। सबंधियो से अच्छा और कोई अभिभावक नही हो सकता ।"

"यह सर्व सत्य नही है और फिर सबंध तो बनाये जाते है । पति-पत्नी का घनिष्टतम सम्बन्ध भी तो ऐसा ही है ।"

"माँ, बाप, भाई से अच्छा और कौन अभिभावक हो सकता है ?"

"वे ही तो नही रहे ।"

पुरुष ने देखा कि रमणी की आँखें आँसुओ के एकाएक उभर आने से गीली हो गई हैं। कुछ क्षण के लिए कमरे मे मौन छा गया। पुरुष ने नारी के हृदय के किसी करुण तार को झकृत कर दिया था। वे दोनों अपने हाथ के पेय को गले से नीचे उतारने लगे। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद पुरुष ने पूछा—"मैं आपके कुछ काम आ सकता हूँ ?"

"शायद मैंने आपकी भावुकता को जागृत कर दिया है ।"

"आपने कोई बुरा काम तो नही किया ?"

"मैं किसी के आवेश का लाभ उठाना नही चाहती ।"

"सब अच्छे काम आवेश मे ही किये जाते है।"

"इसीलिये वे स्थायी नही होते, क्षणिक होते है।"

"अच्छा काम तो क्षणिक भी बुरा नही होता।"

"अच्छा किया जो आपने मुझसे पूछ लिया। मुझे कुछ राहत मिली। इसके लिये मै आपकी आभारी हूँ।"

"वास्तव मे मेरी इच्छा है कि आपके कुछ काम आऊँ।"

"इसके लिये मैं आपको धन्यवाद देती हूँ। आभार तो मैंने पहले ही प्रकट कर दिया।" इतने मे ही नीचे से आवाज आई—"रति!" उसने उत्तर दिया—

"आई मा।" फिर अपने स्थान से उठते हुए उसने कहा—"अपनी असली चाय तो अब होगी। माँ जैसी सामग्री देती है, वैसी मैं नही कर सकती।"

"पर चाय तो हो गई।"

"वह चाय थोड़े ही थी।"

"फिर क्या था ?"

"वह तो आपको मशगूल रखने का एक बहाना मात्र था।"

"इसीलिये आप इधर-उधर की बातें करती रही।"

"आपको व्यस्त रखने के लिए।" और इतना कह वह नीचे आँगन मे पहुँच गई। अपनी कथित माँ को उचित आवश्यक आदेश दे कर वापिस लौटने में रति को अधिक देरी न लगी। आते ही उसने पूछा—"अकेलापन तो महसूस नही हुआ ?"

"ये क्षण तो बहुत लम्बे हो गये।"

"कितने ?'

"दिन, महीनो, वर्षों जितने।"

"पुरुषों की एक ही भाषा है, श्रीमानजी।" साथ ही उसके होठो पर एक अर्थमयी हँसी खेल गई। पुनः अपने पूर्व आसन पर बैठते हुए उसने कहा—

"अभी तक आप मुझे गैर ही समझते हैं।"

"यह कैसे ?"

—"आपकी चद्दर अभी तक आपके कंधों पर ही है, जुराब भी आपने उतारे नहीं। शायद, आपको मैं अपने प्रति आश्वस्त नहीं कर सकी।"

"ऐसी बात नहीं है।"

"फिर मुझे दीजिये।" और साथ ही उसने उसके शाल को उसके कंधों से अपने हाथों में ले लिया। तरतीब से उसे खूंटी पर टांग कर वह उसके पांवों की ओर उसके जुराब उतारने के लिए अग्रसर हुई। आगन्तुक पुरुष कुछ सहम गया। उसने कहा—

"मैं स्वयं उतार लेता हूँ।" मगर, उसने सुना—

"इसी बहाने एक सज्जन पुरुष का चरण स्पर्श ही हो जायगा।" और साथ ही वह अपने मन्तव्य में संलग्न हो गई। पुरुष बोला—

"रति देवी।"

"मेरा नाम रतिप्रिया है। प्रिया कहने में यदि आपत्ति हो तो आप महज रति कह सकते हैं।" पुरुष चुप। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद उसने मौन भंग करते हुए कहा—

"अपने आपको अब तक मैं बहुत सुसंस्कृत और विद्वान समझता था, परन्तु, आज देखता हूँ कि सांस्कृतिक संलाप की चोटियाँ मेरे लिए भी अभी बहुत ऊँची हैं। रति···"

"कहिये न रतिप्रिये। प्रिये कहने से ही कोई अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जायगा।"

"यह मैं जानता हूँ।"

"छोटे नाम से तो बहुत ही समीपी सम्बन्धी अपनों को पुकारते हैं। बहुत ही अधिक घनिष्टता का सूचक होता है यह।"

"वही समझ लीजिये।"

"आपकी परिस्थिति भिन्न है। उस घनिष्ठता का अहसास अभी आपने नहीं कराया।"

रतिप्रिया की बात सुन कर पुरुष अभिभूत हो गया। उसके मुँह से बलात् निकला।

"देखता हूँ, आपके सामने समर्पण ही सर्वश्रेष्ठ है।"

इतने में ही रतिप्रिया की माँ ताजी सामग्री लेकर उपस्थित हो गई।

मेज पर सामग्री सजाते हुए उसने पुरुष की ओर देखा। बोली—

"आप तो उस दिन आये और ऐसे चले गए, जैसे हमने कोई बहुत बड़ा अपराध आपके प्रति कर दिया हो। क्या सचमुच ऐसी कोई बात थी?"

"कुछ नही, माँ। कोई आवश्यक कार्य याद आ गया था।"

"खैर। कोई बात नही। आज तो कोई बिगड़ने वाला काम नही है न?"

"जी नही।"

"फिर आज का खाना यही हमारे साथ खाना है।"

"फिर यह सब क्या है?"

"चाय का पानी खाना थोडे ही होता है? नमकीन तो सिर्फ मुँह का स्वाद बदलने के लिए रख दिये हैं।" यह कहते हुए वह नीचे चली गई।

रतिप्रिया ने पुन पेय से प्यालो को पूरित कर दिया। वे दोनों प्रस्तुत सामग्री का आस्वादन करने लगे। बीच-बीच में वार्तालाप भी चालू था। पुरुष पूछने लगा—

"आपने बताया कि आपके सम्बन्धी बंगाल में है।"

"जी।"

"उनसे कैसे बिछुड़ना हुआ? यहाँ कैसे आई?"

"यह बहुत लम्बी कहानी है, महाशय जी।"

"क्या बताने मे कोई आपत्ति है।"

"बिल्कुल नही।"

"मैं सुनने का इच्छुक हूँ।"

प्याले के पेय को गले मे उतारने के बाद रति बोली—

"क्या आपने उसे सुनने का अधिकार प्राप्त कर लिया है?" पुरुष प्रश्न सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। कुछ क्षण उससे बोलते न बना। इस प्रश्न के सदर्भ मे उसके मस्तिष्क मे उसका यहाँ आना, बैठना, सलाप, मेज की खाद्य सामग्री, सब नई समस्या बन कर उभर आये। मौन, स्तब्धता, हीनता, सबकी मिश्रित छाया उसके चेहरे पर स्पष्ट हो गई। कुछ क्षणों की स्तब्ध शान्ति के बाद उसने सुना—

"आपने उत्तर नहीं दिया? आप चुप हैं ?"

"बडा टेढ़ा प्रश्न है, देवी जी।"

"आप टेढ़ा ही उत्तर दे दीजिये।"

"शायद, हां।"

"शायद, नहीं भी ?" पुरुष पुनः चुप। रतिप्रिया ने पूछा—

"क्यों ?"

"मैं आपका मन्तव्य नहीं समझा।"

"मैं आपका मन्तव्य समझ गई। आपने एक साधारण प्रश्न को बहुत गहराई से ले लिया। अपने प्रश्न से मैंने कोई जिम्मेवारी आप पर डालने की चेष्टा नहीं की थी। न मेरा वह अधिकार है और न आदत ही।"

"जिम्मेवारी से मुझे कोई भय नहीं है।"

"ऐसा तो वे भी कहते थे। शायद, सब पुरुष पहले-पहले वही बात कहते हैं।"

"परन्तु मैं उस जैसा, सभी जैसा पुरुष नहीं हूं।"

"ऐसा भी सभी पुरुष कहते हैं।"

"आपका गलत आदमियों से वास्ता पड़ा है।"

"यह भी नई बात आपने नहीं कही। शायद, सब पुरुषों की एक ही भाषा है। ऐसी भाषा से, अपने अनुभव के कारण, अब मुझे भय होने लगा है। देखती हूं सर्व समय सर्वत्र एक जैसे पुरुष एक जैसी भाषा ही बोलते हैं। आप उनसे भिन्न कैसे है, मैं कैसे जानूं ?"

"क्या कहने से आपको विश्वास होगा ?"

"वही आप बोल देंगे ?"

"क्यों नहीं ?"

"फिर तो वह आपकी बात नहीं हुई।"

"मैं उसे वचन के रूप में कहूँगा।"

"पर, वह होगा वाचन ही। वचन तो व्यक्ति के हृदय से कहे जाते हैं।" मुंह के कौर और गले में पेय के घूंट के साथ दोनों की वार्ता अग्रसर होती गई। पुरुष नारी की सवाद शक्ति के आगे चुप था। रतिप्रिया कुछ क्षणों के मौन के बाद बोली—

"आप बहुत कृपण मालूम होते हैं। इतना कुछ लेने के बाद भी आपने कुछ दिया नही। इससे मैं क्या समझूँ ?"

"क्या मतलब ?" विस्मय और हीनता, प्रश्न सुनते ही उसके चेहरे पर आ गईं। मगर, उसी क्षण उसने सुना—

"मेरा मतलब परिचय से है। मेरे विषय मे बहुत कुछ जान कर भी आपने अपने विषय मे अभी तक कुछ भी नहीं बताया। ऐसी कृपणता भी किस काम की ?"

"मेरा नाम अजय है।"

"बहुत अच्छा नाम है।"

"मूल में उत्तर प्रदेश का निवासी हूँ। पर, रहा वहाँ बहुत कम हूँ। बंगाल, बिहार, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र सभी मे मैंने प्रवास किया है। अपने भ्रमण मे मैंने बहुत कुछ सीखा है। एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। चित्र, मूर्ति, संगीत, साहित्य का अध्ययन और साधना की है। किसी भी ज्ञेय विषय से मुझे अरुचि नही है। बल्कि, चाहता हूँ कि प्रत्येक में दक्षता प्राप्त करूँ। अब आव्रजक हूँ।"

"और पहले क्या थे ?"

"गृहस्थी था। भाग्य ने वह सुख छीन लिया।"

"और उस सुख की खोज मे अब आव्रजक है ?"

"यही बात है।"

"अपने आव्रजन मे आपको शान्ति मिली ?"

"नही।...उसकी तलाश मे हूँ।"

"अपने से बाहर कही शान्ति है, अजय बाबू ?"

"भीतर शान्ति नही थी, इसीलिए तो बाहर खोजने निकला।"

"बाहर कही मिले तो मेरा भी उससे साक्षात्कार कराना।"

"निश्चय ही, देवीजी।"

"कुछ आशा बँधी है ?"

"क्यो नही ?"

"कहाँ ?"

"यहाँ। इसी घर मे, आप में।"

"फिर वही पुरुषों वाली पुरानी बात ।"

"मैं झूठ नहीं कहता ।"

"मैं इस सत्य से तंग आई हुई हूँ ।"

"क्या आपने मानव में, उसकी मानवीयता मे, विश्वास खो दिया है?···आपकी उसमे आस्था नही है ?"

"चाहती हूँ कि आस्था हो । परन्तु···" आगे शब्द उसके मुँह से निकले नही ।

"परन्तु क्या ?" रतिप्रिया ने प्रश्न सुन लिया था । अपने मुँह के कौर को गले से नीचे उतारने के बाद वह बोली—"अनुभव उस आस्था को टिकने नहीं देता ।" कुछ क्षण की चुप्पी के बाद उसने प्रश्न किया—

"अजय बाबू ! आपको यहाँ शान्ति मिली, उसका कारण क्या है ?"

"साम्यता ।"

"किससे ।"

"अपनी प्रिया से ?" रतिप्रिया अवाक्-सी उसकी ओर देखने लगी । उसने सुना—

"निश्चय ही उसमें और आप मे कुछ अन्तर नही समझ पा रहा ।"

"वही तो नही हूँ ?" पुनः एक स्मिति की छटा खिल गई ।

"नही । उसका दाह-सस्कार तो मैंने अपने हाथ से किया है ।"

"ओह ।"

"सर्वप्रथम आपके मधुर स्वर ने मुझे आकर्षित किया । फिर देखा, तो एकाएक अपने पर विश्वास नहीं हुआ । स्वप्न है या सत्य ? वह यहाँ कैसे आ गई ? अपने को बार-बार कई जगह से स्पर्श करके, बार-बार अपने मस्तिष्क मे स्वयं से प्रश्न करके, आखिर आश्वस्त हुआ कि स्वप्न तो नही है । जीवन में इतनी अधिक साम्यता दुर्लभ है । फिर स्वार्थ-वश असंभव को सभव समझने लगा । असत्य को सत्य समझने की इच्छा जागृत हुई । रहस्य भी तो कोई चीज होती है । सोचा, शायद यह भी एक रहस्य है । बलवती भावना, इच्छा, शायद एक भूत को पंच-भूत मे परिवर्तित कर देती है । शायद वही रहस्य मूर्तिमान हुआ है । यही सोच मैं आपकी ओर आपके परिचय के लिए अग्रसर हुआ । आपकी

उदारता ने मुझे और भी मेरे विश्वास मे आस्वस्त कर दिया। मगर, यहाँ आने के बाद मैंने आपके पुस्तकालय की पुस्तकें देखी तो मेरे मस्तिष्क ने, मेरे हृदय ने मुझसे कहा, अजय ! यह वह नही है। यह वह नही हो सकती। यह धोखा है और फिर मुझे किसी वलवती प्रेरणा ने, उसके आवेश ने इस स्थान को छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। तब से यह आज का दिन है। सोचता हूँ कि मैं गलत था। मेरा यहाँ से जाना मेरी भूल थी, बडी भूल। बहुत बड़ी भूल। आज एक प्रेरणा, फिर कहती है कि शायद वह वही है। जलकर, जलाकर भस्म कर देने की बात ही गलत है। शायद, उससे अस्तित्व समाप्त नही होता। परिवर्तित रूप मे पुन. प्रतिस्थापित हो जाता है। भूत, प्रेत, देवी, देवता, रहस्यमय जीवन की सत्य घटनाएँ है। और रहस्य है ही क्या ? वही तो, जो समझ मे न आये। आज भी इस स्थिति को, आपके अस्तित्व को मैं समझने मे असमर्थ हूँ।"

"वह मैं नही हूँ।"

"यह ठीक है, परन्तु, आज मैं इस सत्य को अस्वीकारना चाहता हूँ। जिस असत्य से इन्सान की रक्षा होती है, जिस झूठ से उसे नया जीवन मिलता है, वह असत्य, वह झूठ, सत्य से कही अधिक अच्छा होता है। दो दिन के जीवन मे क्या झूठ, क्या सत्य ? जिससे जीवन का सफर साध्य हो, वही सत्य है। जीवन के लिए सबल चाहिए। जैसा जो मिले वही ठीक है।"

"जिसे संवल चाहिए, वह स्वय सबल नही हो सकती।"

"आपको सबल चाहिए रति देवी ?"

"क्यो नही ?"

"कैसा सबल ?"

"सबल के भी क्या प्रकार है ?"

"क्यो नहीं ?"

"जैसे ?"

संपत्ति, धन।"

"आवश्यक, वह मेरे पास है।"

"पुरुष ।"

"पुरुष चाहिए, परन्तु पति नही । साथी चाहिए, स्वामी नही ।"

"और उस पुरुष से अपेक्षा क्या है?"

"सह-जीवन, आदान-प्रदान, पर भार नही । समर्पण नही, विनिमय।"

"क्या वह पुरुष मेरे जैसा हो सकता है ?"

"क्या आपको अपने पर विश्वास है ?"

"किस रूप में ?"

"पुरुष रूप में।"

"क्यो नही ?"

"फिर मैं सोचूँगी।" और इतना कह वह पुनः स्थालिका मे रखी खाद्य-सामग्री को चवाने लगी। प्याली के पेय का मुँह से स्पर्श करते ही उसने कहा, "चाय ठंडी हो गई है, अजय बाबू ! उसे रिक्त पात्र मे डाल दीजिये। लाइये, मुझे दीजिये। मैं दूसरी प्याली बना देती हूँ।" और यह कहते हुए उसने अजय के हाथ की प्याली को अपने हाथ में ले लिया। उसे रिक्त करके पुनः गरम चाय से पूरित करते हुए वह बोली—

"अजय बाबू ! रतिप्रिया एक स्वतंत्र विचारो की औरत है। वह भी एक साधारण नारी ही होती, परन्तु भाग्य को यह स्वीकार नही था। माँ-बाप के मरने के बाद अन्य सम्बन्धी उससे और उसकी बड़ी बहिन से छुटकारा पाना चाहते थे। इसमें उनके निजी स्वार्थ थे। आज हम दोनो बहिनो को बिछुड़े अरसा बीत गया। सात-आठ वर्षों से उसका कोई पता नहीं है। मेरे विषय में भी, शायद उसको कोई खबर नहीं होगी। अब अगर कही मिल भी जाय, तो एक-दूसरे को हम नही पहचानेंगी। खैर, हर एक की किस्मत अपने साथ है। जो बीत गया, वह वापस नही आ सकता। भविष्य, वह तो अभी गर्भ में है, पैदा ही नही हुआ। क्या हो, कैसा हो, कुछ भी नही कहा जा सकता। दोनो को समस्या बनाकर वर्तमान को नही बिगाड़ना चाहिए। जो, जैसे, जितना चले ठीक है। समय गुजरता ही है। इसी तरह दिनों के साथ उम्र बीतती है। पुरुष के लिए जैसे सभी बाधाओं के बावजूद उसकी शक्ति उसका बल, उसका संबल होता है, उसी तरह जीवन मे नारी के लिये,

सब अभावों के होते हुए भी उसका रूप, उसका नारीत्व उसके सफर मे उसका पाथेय वन जाता है। अभिभावकों की अनुपस्थिति मे ही ये सब सवल उसके काम आते है। अभिभावको के रूप मे मैंने उनका उपयोग-मात्र सीख ही नही लिया, वल्कि साध्य कर लिया है। इसीलिए आज आश्रय की आवश्यकता नही। अपना आश्रय स्वयं ही हूँ।"

"आपकी ये माताजी ?"

"सहायक है।"

"आने-जाने वाले पुरुष ?"

"साथी है।"

"आश्रय नही ?"

"नही ?"

"आपने ही तो उस दिन कहा था कि वे मालिक है।"

"वह भाषा का सौजन्य था। फरेब कह दीजिये।"

"आप फरेब करती है ?"

"मेरे लिए वह सौजन्य संस्कृति का अंग है। सास्कृतिक भाषा न समझने वालो के लिए वह एक धोखा और फरेब की वात हो सकती है। पर, उसमे गलती मेरी नही है। वस्तुपरक दृष्टि न रखने के कारण पुरुषों को प्राय यह धोखा हो जाता है। जो जैसा है, उसे वैसा ही देखने-समझने से इन्सान गलती नही खाता।"

इसी समय घड़ी ने नौ वजाए। रतिप्रिया उठ खडी हुई। वोली—

"मेरे अभ्यास का समय हो गया है। पूरा एक घंटा मुझे लगेगा।"

"कही जायेंगी ?"

"विलकुल नही ! नीचे कमरा है। वही मेरा अभ्यास मंच है। आप यहाँ आराम से बैठिये। आप विद्वान् हैं। मैं आपको मेरे से अधिक सुसंस्कृत और योग्य ऋषियो का संग-लाभ करा कर जाऊँगी।" और इतना कह कर वह अपनी पुस्तको के सग्रह की ओर अग्रसर हुई और उनमें से दो-तीन पुस्तकें उसके आगे रखकर वोली, "आप से अभी घंटे-भर का अवकाश ? ठीक है न ? माफी चाहती हूँ।" शब्दो के साथ ही वह नीचे चली गई।

अजय पुस्तकों के अध्ययन में लीन हो गया। कभी-कभी उसका ध्यान नीचे से आते हुए स्वरों और बोलों की ओर अवश्य चला जाता। रतिप्रिया को वापस लौटने मे घंटे-भर से कुछ अधिक ही लगा। मगर जो पुस्तकें वह जाते हुए उसके सामने रख गई थी, उन्होंने उसे व्यस्त रखा। लौटी, तो उसके चेहरे पर मुस्कराहट थी। कमरे मे प्रवेश करते ही अजय ने पूछा—

"अभ्यास हो गया?"

"हाँ। आप अकेले मे अन्यमनस्क तो नही हुए?"

"नहीं। आप जो प्रबन्ध कर गईं, वह सराहनीय था।"

"पुस्तकें कैसी लगी?"

"बहुत अच्छी हैं, परन्तु ये सब आपको कहाँ से मिली?"

"बाजार में सब कुछ मिलता है।"

"आखिर किसी ने तो इनका नाम-पता भी दिया होगा।"

"प्रकाशकों और विक्रेताओं के सूची-पत्रों में सारी सूचनाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।"

"आप उन्हें मँगाती है?"

"नही तो।"

"फिर?"

"पुस्तकालयों में नियमित रूप से वे मिल जाते है। मैं जहाँ भी निवास करती हूँ, नियमपूर्वक पुस्तकालय पहुँच कर पढती हूँ। पुस्तकालय-पत्रक प्राप्त करने के बाद वहाँ की पुस्तकें प्राप्त करने मे कोई दिक्कत नही होती। जहाँ अच्छे पुस्तकालयाध्यक्ष होते है, वहाँ किसी विषय की पुस्तकें चयन करने में आपको असुविधा नही होगी। प्रत्येक पुस्तकालय

में अपना सूची-पत्र रखने की प्रथा है। अपने इच्छित विषय का स्वयं भी उससे अवलोकन किया जा सकता है।"

"यहाँ अच्छा पुस्तकालय है?"

"क्यों नही।"

"ये पुस्तकें?"

"ये तो मेरी अपनी हैं। जो पुस्तकें मुझे पसन्द आ जाती है, उन्हे मैं खरीद लेती हूँ।"

"ये सब खरीदी हुई हैं।"

"सब नही, कुछ उपहार है।"

"आपने इन सबको पढा है?"

"क्यों नही? इनका और उपयोग ही क्या है? दिखावे के लिए पुस्तकों का भडार रखने की न तो मेरी आदत है और न क्षमता ही। बहुत से लोग ऐसा करते हैं, परन्तु वह धन का दुरुपयोग व प्रदर्शन-मात्र है।"

"कामशास्त्र की इतनी पुस्तकें···?"

"बुरा है, यही तो? विशेष कर, मेरे यहाँ। क्यों?"

"आश्चर्य है।"

"एक बात पूछूँ?"

"अवश्य।"

"शास्त्र बुरा है?"

"नही।"

"ज्ञान बुरा है?"

"नहीं तो।"

"फिर कामशास्त्र क्यों हेय है?"

"हेय नहीं। सभ्य समाज असामाजिकता से इसे सबद्ध करता है।"

उत्तर सुनकर रतिप्रिया को हँसी आ गई। अजय उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा में उसके सुन्दर चेहरे की ओर एकटक ताकता रहा। कुछ क्षण की अर्थ-भरी दृष्टि के बाद उसके मुँह से शब्द निकले—

"अजय बाबू! पुरुष के लिए नारी काम का आगार है। उसका

अंग-प्रत्यंग काममय है, काम की धारा से सिंचित है। यौवन का भान होते ही काम की किरणें स्वतः उसके शरीर से प्रस्फुटित हो-होकर उसके चारों ओर के वातावरण मे फैलती रहती है। यह प्राकृतिक है, अपने आपके ऐसे समय में वह पुरुषों का, उसके ध्यान का, केन्द्र-स्थल, केन्द्र-बिन्दु बन जाती है। पुरुषों के लिए भी अपनी एक अवस्था मे नारी के प्रति आकर्षित होना प्राकृतिक है, स्वाभाविक है। नारी की उन किरणों के पुरुष सर्वत्र, सर्व समय प्रणय स्थल हैं। प्रकृति के इस नियम से नारी और पुरुष किसी को कोई छुटकारा नही। शैशव के प्रारम्भ से मरण की आखिरी अवस्था तक सब प्राणियों की यह प्रेरक शक्ति है, जो इसे जानता है वह ज्ञानी है। जो इसे नही जानता, इसे जानने की कोशिश नहीं करता, इसके ज्ञान ड प्रसार में बाधक होता है, वह न ज्ञानवान है, न सामाजिक ही। कुंठाग्रसित ऐसे सुधारकों से किसी समाज को कोई लाभ नही पहुँच सकता।"

"मालूम होता है कि आपकी इस काम में बहुत अधिक अभिरुचि है।"

"काम मे नही, कामशास्त्र में।"

"मैं क्षमा चाहता हूँ कि उपयुक्त भाषा का मैं प्रयोग नही कर सका।"

"कोई बात नही।"

किसी विषय में अभिरुचि रखना मैं बुरा नहीं मानती। क्या भारत के आर्य ऋषि अविवेकी और असामाजिक थे जिन्होंने काम जैसे विषय को शास्त्र की संज्ञा दी? फिर समझ में नही आता कि आजकल के सुधारक इस विषय के ज्ञान की चर्चा तक क्यों नही करते। किसी वस्तु को, किसी विषय को रहस्यमय बना देने से उसका अस्तित्व नही मिट जाता, बल्कि, उल्टे उस विषय मे लोग गलत धारणाएँ, तरह-तरह की गलतफहमियाँ अपने मस्तिष्क में पालने लगते है। प्राकृतिक नियम से विरोध क्या? जीवन की प्राकृतिक घटना के प्रति उदासीनता, बेरुखी किस बात की? मस्तिष्क की क्रिया के मूल में जो सत्य स्थापित हो, क्या उससे छुटकारा पाया जा सकता है? क्या उसके ज्ञान के अभाव में

इन्सान इन्सान को भलीभाँति समझ सकता है ? क्या जीवन मे एक-दूसरे को समझना असामाजिक है ?"

"तर्क तो ठीक है।"

"ठीक और बे-ठीक का फिर आधार क्या है ?···आदि शंकराचार्य और मण्डन मिश्र की कहानी तो आपने सुनी ही होगी। वह कथन ही सही, सत्य न सही, पर इतना सत्य तो उससे झलकता ही है कि उस युग मे स्त्री-पुरुष धार्मिक शास्त्रार्थ के स्तर पर काम की चर्चा करने में समाज के धार्मिक मच पर भी स्वतन्त्र थे। और आज ? अध्यात्म से दूर भौतिक सस्कृति का प्राणी काम, भोग, संभोग आदि शब्दो को अपने घर मे और अपने समाज मे, अपनो मे, चर्चा करने से घबराता है। जैसे ये शब्द, काम का यह विषय, किसी निम्न, हीन सभ्यता की देन हो।"

"बात तो ठीक है, परन्तु···"

'परन्तु क्या ?"

"आज का गृहस्थ इसे स्वीकारता नही है।"

"गन्दगी पर पर्दा डालने से क्या कभी गन्दगी मिटी है, अजय बाबू ?"

"फिर यह गन्दगी है न ?"

"है नही, हमने-आपने इसे बना रखा है, अजय बाबू। हवा, पानी, भोजन की तरह ही काम भी हर जीव की आवश्यकता है। इसे भी शुद्ध रूप मे प्राप्त किये बिना वह स्वस्थ नही बन सकता। भारतीय ऋषियो ने काम को महत्ता को कभी कम नही समझा। पाश्चात्य विद्वानों ने भी अब इसकी परिपुष्टि कर दी है कि मानव-जीवन के सचरण मे, उसकी अभिव्यक्तियो मे, उसकी विकृतियों मे, इस काम का एक बहुत बड़ा हाथ है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि जन्म से मृत्यु तक काम की प्रवृत्ति मानव का पिण्ड नही छोड़ती। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से दूर रहना, दूर रखना जीवन मे अपूर्णता को आमन्त्रण देना है। इसीलिए जीवन के स्वभाव से जो आवश्यक है,उसके तिरस्कार के पक्ष मे मैं नहीं हूँ। वह तिरस्कृत है भी नही।"

"यह सब आप पठन से कहती हैं या अहसास से, अनुभव से ?"

"दोनो से।···आपने मेरी आलोच पुस्तिका अभी नही देखी। उसमे

मेरे विस्तृत पठन व सैकड़ों समक्षकारों का विवरण है। एक अच्छा-खासा भाषण उससे तैयार किया जा सकता है।"

"आप भाषण देंगी ?"

"नही, मुझे भाषणों में विश्वास नही है।"

"फिर आलोक पुस्तिका का प्रयोजन ?"

"वह मेरे अपने उपायोग के लिए है। अनेक गृहस्थियों के जीवन को मैंने परिश्रम से प्रकाशित किया है। मेरा ज्ञान, मेरा पठन, अर्थहीन नही है। मैंने कामशास्त्र से शिक्षा ली है, दी है और देती हूँ। यह चरित्रहीन आवाराओं की कहानी नही है, अजय बाबू। सयत, सुखी जीवन का यह एक सूत्र है, योग है, संविन्यास है।"

रतिप्रिया के कथन को सुनकर अजय हतबुद्धि रह गया। वह उसे अब तक एक सुन्दर, असहाय रमणी समझता रहा था, पर ज्यो-ज्यों उसकी वार्ता उससे अग्रसर होती गयी, उसमें उसे अनेक नए आयाम दृष्टिगोचर हुए। साथ-साथ उसकी दिलचस्पी भी उसमे बढती गयी। सोचकर वह कुछ कहना चाहता था, उसके पहले ही कमरे के द्वार पर हल्का-सा अभिहनन हुआ।

"कौन ?"

"यह तो मैं हूँ।" साथ ही उसकी माँ अन्दर आ गई। रतिप्रिया ने पूछा—

"मोटर आ गई ?"

"हाँ।"

"फिर जल्दी करो माँ। मेरे और ड्राइवर के लिए दो कप चाय बना दो। अजय बाबू को खाना दे देना। ये आराम करके उठेंगे, उसके पहले मैं आ जाऊँगी। क्यो, ठीक है न ?"

"मेरे लिए खाना ?"

"क्या हर्ज है ?"

"आप तो जा रही है।"

"इससे क्या ? आप इसे अपना ही घर समझिये।"

"सो तो ठीक है, पर···"

"मैं जानती हूँ कि आपका यहाँ अपना कोई घर नही है, जो कही कोई इन्तजार करता होगा। यह बात दूसरी है कि यदि आपको यहाँ ठहरना नागवार गुज़रता हो। उस सूरत मे मैं आपको विवश नही करना चाहूँगी। मेरा लौटना करीब दो घटे मे होगा। अच्छा अभी इजाज़त चाहती हूँ।"

और इतना कह वह नीचे के तल्ले मे चली गयी। उसके जाने के बाद कुछ देर तक अजय अकेला बैठा कभी कुछ अपनी स्थिति सोचता और कभी रतिप्रिया की। अपने अब तक के जीवन में उसे ऐसी नारी से वास्ता नहीं पडा था, न ऐसी स्थिति-परिस्थिति से ही। व्यवहार मे इतनी शीघ्र आत्मीयता उसने उत्पन्न होते अब तक नही देखी थी। इस नारी से अपने भावी सम्बन्ध के विषय मे वह अभी अनिश्चित व अनिर्णित था। बहुत देर तक वह कमरे की छत पर टकटकी लगाए बिस्तर पर पड़ा रहा। एक बार यह भी उसके दिमाग मे आया कि उसकी तथाकथित माँ से ही कुछ बात करे, परन्तु फिर उसकी भी व्यस्तता को देखकर उसे अपना वह विचार छोड देना पडा। वह उठकर पुस्तको की ओर चला गया। उसने देखा कि हिन्दी, अंग्रेजी, बगला भाषा की अनेक विषयो की पुस्तकें उसके इस छोटे-से पुस्तकालय मे मौजूद है। कथा-साहित्य की विपुलता होते हुए भी उसने महसूस किया कि अन्य सत्साहित्य की उसमें कमी नही है। अनेक शोध-ग्रन्थ भी उसने देखे। भारतीय कला, संस्कृति, धर्म-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ यहाँ उसकी दृष्टि मे आये। जिस अपनी आलोक पुस्तिका का रतिप्रिया ने आज उससे जिक्र किया था, वह तो उसे वहाँ नही मिली, परन्तु उसने देखा कि पैसिल से उभारी हुई नारी और पुरुष की अनेक आकृतियों की सग्राहिका वहाँ अवश्य मौजूद है। उसे निश्चय करते अधिक देर नही लगी कि रतिप्रिया काफी अध्ययनशील, बुद्धिमान और क्रियाशील औरत है। जिस साधे हुए स्वर, सौन्दर्य और सलाप ने उसे आकर्षित किया था, उसके पीछे उसे सयम, संस्कृति और सुसस्कारो की एक पृष्ठभूमि दृष्टिगोचर हुई। इन सबके सम्मिलित सदर्भ में उसने अपने गत-जीवन की ज्ञानोपार्जन-सम्बन्धी घटनाओं और परिस्थितियो का अपने मस्तिष्क में विवेचन किया। अनेक पुस्तकें उसने पढी थी। अनेक सास्कृतिक

सम्मेलनों में वह शामिल हुआ था। अनेक कलाकारो का उसे परिचय प्राप्त था। सगीत-आयोजन किये थे, नृत्य देखे थे, चित्र प्रदर्शनियाँ देखी थी। अनेक नेताओं और विद्वानों के भाषण सुने थे, परन्तु क्षण-भर में ही उसके मस्तिक मे एक प्रश्न उठा कि क्या उसने जो कुछ पढा, सुना, देखा, उस पर उसने कभी मनन भी किया या नही। यदि नही तो क्या वह सब जीवन की इस मजिल पर निरर्थक नही हो गया है। घटनाओं की स्मृति आज भी उसके मस्तिष्क में सुरक्षित थी, परन्तु उनका सम्बन्ध किसी कलात्मक सिद्धान्त को लेकर हृदय और मस्तिष्क से न था, बल्कि मात्र मन से था, एकमात्र इच्छाओं से, वासनाओं से था। उसने महसूस किया कि अपनी इच्छाओं की अनुकूलता के कारण, उनकी कुछ अशों मे तुष्टि के कारण ही अब तक वह अपने-आपको सुसंस्कृत, कला-प्रेमी, विद्वान और भी न जाने क्या-क्या समझता आ रहा है। उसे अहसास हुआ कि कला, ज्ञान, संस्कृति सब जब तक इन्सान के हृदय में स्थापित होकर अपने स्वयं के जीवन मे, अपने समाज के जीवन मे प्रसारित न हो, अंकुरित, पल्लवित व पुष्पित न हों, तब तक जीवन के अस्तित्व का बोध, उसका उद्देश्य, उसका अभिप्राय वह नही जान सकता। अपने गहन किन्तु क्षणिक विचारों की इस शृंखला में रतिप्रिया का आकर्षण, व्यक्तित्व, उसकी सौन्दर्यमयी प्रतिभा प्रच्छन्न रूप से प्रतिक्षण उसके समक्ष रही। ऐसी मानसिक स्थिति मे कमरे के कपाट पर उसने अभिहनन सुना। बोला, "आइये।" रतिप्रिया की माँ उपस्थित हुई। पूछा—

"खाना ले आऊँ बाबूजी?"

"ले आइये।" वह वापिस लौट गई।

उधर रतिप्रिया के चारों ओर युवतियों का समूह उसे घेरे हुए बैठा था। कमरे की सजावट व उपस्थित वृन्द की पोशाकों से यह सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता था कि वह किसी सम्पन्न परिवार के आवास का एक कक्ष है। संगीत का साज सामान इस कमरे में अभी खुला और बिखरा हुआ था, जिससे यह भान होता था कि कुछ देर पहले तक उसका अभ्यास यहाँ चालू था। इस समय रतिप्रिया से अनेक तरह के प्रश्न पूछे जा रहे थे और वह उनका उत्तर दे रही थी। एक कह रही थी—

"बहिन जी ! पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये।"

"पूछो भी।"

"वस्त्र कैसे पहनने चाहिये ?" दूसरी बोली—

"यह भी कोई बात है ? जैसे मन को अच्छे लगे।" दूसरी बोल पड़ी—

"मैं आपसे उत्तर नहीं चाहती। बहिनजी से प्रश्न है।"

"मैंने तो सुना है कि खाना अपनी पसन्द का और कपड़े किसी और की पसन्द के। कथन तीसरी का था। मगर सबने सुना, "और किसी के कोई और नहीं हो तो ?" बोलने वाली यह कोई और ही थी—

"बहिनजी ! यह हर बात को मजाक में उड़ा देती है।"

"परस्पर में तो मजाक ही होता है। इनका कोई रहस्य हो तो आप भी ताना कस दो।···खैर।···आप सब एक ऐसी अवस्था में पहुँच गयी हो, जब सारे पुरुष आपकी ओर देखेंगे। न चाहते हुए भी उनकी दृष्टि आपकी ओर उठ जायगी। यह आकर्षण प्राकृतिक है। अपनी इस उम्र में आप भी औरों की ओर अपनी दृष्टि उठायेंगी। सलज्जा आपकी नजर

स्वत. झुक जायगी। यह भी प्राकृतिक है। युवक हो या युवती। किसी को किसी ने, किसी समय यह सिखाया तो नही कि एक-दूसरे को देखकर इस प्रकार अपनी दृष्टि उठायें या झुकायें।···मैं तो कहती हूँ, वह सब प्रकृति मे सर्वत्र देखने को मिलता है···कलि के प्रस्फुटित होते-होते अनेक तरह के जीव, तितलियाँ, भौरे, मानव तक क्यों उसके इर्द-गिर्द, मँडराने लगते हैं ? पूर्ण विकसित होने पर वही कलि एक सुन्दर सौरभमय पुष्प का रूप ले लेती है। पृथ्वी, हवा, पानी, धूप, आकाश, प्रकृति के जीव सभी प्रकृततः उसके विकास में योग देते है। एक सहृदय व्यक्ति, एक समझदार माली उस सुन्दर पुष्प को तोड़ता नही। जो उसकी सार्थकता को जानता है, वह उसे उसी के स्थान पर मुरझा जाने की स्वतन्त्रता देता है। वही अपने वातावरण में, अपने प्राकृतिक समाज मे। वही कलि वृद्धिगत, सुरभित व विलसित होती है। एक दिन आता है, जब पूर्ण मुरझा जाने के बाद अपने गर्भ में अपने ही जैसी अनेक सभावनाओं को लिए हुए, बीजो को लिए हुए, हवा के एक झोंके के साथ जमीन पर झड़ जाती है। समझदार माली ऐसे आखिरी समय में पृथ्वी के अन्य स्थलों को सज्जित व सुरभित करने के लिए उसे उठाकर सुरक्षित रख लेता है।···यदि किसी समझदार माली के वह हाथ नही पड़ती तो प्रकृति ही अपने एक नियम से उसे, उसके बीजों को, हवा के झोको से इधर-उधर बिखेरकर धूल से आवरित कर देती है। इस तरह बीज पुन. अंकुरित होने की प्रतीक्षा करते हैं और उस एक दिन की कलि का वाकी हिस्सा खाद बनकर अपने समाज की उसी भूमि को उपजाऊ बनाता है। सर्दी, गर्मी, पतझड़, वर्षा, वसन्त सब उन बीजो के पुनः अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, विलसित, सुफलित होने में सहायक होते हैं और एक दिन उस कलि का अपना ससार—एक संसार बस जाता है, जो हमारे ससार को सुन्दर बनाता है, सुरभित करता है।···कहने का तात्पर्य यह है कि कलि के निरन्तर परिवर्तन, निरंतर वृद्धि का यह प्राकृतिक नियम समस्त प्रकृति में सर्वत्र शाश्वत है। मानव इस नियम से स्वतन्त्र नहीं। तुम स्वतंत्र नहीं; मैं स्वतत्र नही, हमारे बुजुर्ग स्वतंत्र नहीं, हमारे साथी स्वतंत्र नहीं। न हमारी सन्तान ही इससे मुक्त होने का दावा कर सकेगी।···अब पुनः मैं

तुम्हारे सीधे प्रश्न पर लौटती हूँ। प्रश्न किसका था ?"

"मेरा वहिन जी।"

"कलि का खिलना, प्रस्फुटित होना, स्वभाविक है न ?"

"जी।"

"जब तक वह स्वस्थ और सुन्दर नही दिखाई देगी, क्या तब तक उसके विकसित और सुरभित होने के अवसर उत्पन्न होगे ?"

"नही।"

"इसका मतलब हुआ कि सुन्दर दिखाई देने की लालसा स्वाभाविक है, प्रकृति दत्त है।"

"जी।"

"अब प्रश्न उठता है कि सुन्दर किस प्रकार बना जाय ? क्यों ?"

"जी।"

"सौन्दर्य की प्रथम शर्त है, स्वास्थ्य। अच्छा स्वास्थ्य।···स्वर्ण, हीरे-जवाहिरात, कीमती वस्त्र पहनने से क्या स्वास्थ्य बनता है ? गन्दे अगो पर क्या कीमती वस्त्र, आभूपण शोभा देते है ? उत्तर, नही-नही। दूसरा प्रश्न है, अच्छे स्वास्थ्य की शर्त क्या है ? शुद्ध हवा। शुद्ध पानी, शुद्ध जमीन, शुद्ध धूप, शुद्ध आकाश और श्रम। सब स्वच्छ। स्वच्छ शरीर, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ खाना, और इन सबके साथ स्वच्छ विचार, स्वच्छ हृदय, स्वच्छ मन। उसकी स्वच्छ इच्छाएँ और यह सब इसलिए कि मानव प्रकृति का आज तक सर्वोत्तम विकसित प्राणी है। सर्वरूप से स्वस्थ वातावरण उसके सर्व स्वास्थ्य के लिए एक आवश्यक शर्त है। तभी वह अपने सर्व विकास की ओर अग्रसर हो सकता है। वह एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए आवश्यक है कि उसका समाज भी स्वस्थ हो।"

"सम्पूर्ण स्वस्थ समाज की परिस्थिति तो ससार मे कही नही है, वहिनजी।"

"यह सत्य हो सकता है, सत्य है। इसीलिए सर्व स्वस्थ मानव भी आज ससार मे नही हैं। मैंने आदर्श परिस्थितियो मे आदर्श स्वस्थ मानव व उसके समाज का ही जिक्र किया है। मैं तुमसे ज्यादा जानती हूँ कि

कितनी, कैसी बीमारियाँ, विकृतियाँ, प्रदूषण इस समाज में है, जो इसके आदर्श बनने में बाधक हैं, परन्तु प्रश्न यह नही है। प्रश्न व्यक्ति का है कि वह स्वस्थ कैसे बन सकता है? प्राप्त परिस्थितियों मे वह यदि मेरे बताए गए सत्य का अनुसरण करे तो निश्चय ही वह उचित स्वास्थ्य से वंचित नही रहेगा, चाहे आदर्श वह न हो। जिस समाज मे कलि को, नारी को प्रस्फुटित होना है, उसी को तो वह आकर्षित करेगी - उसी को तो वह प्रभावित करेगी। समझी?"

"जी।"

"इसलिए अन्तर और बाह्य रूप से स्वस्थ रहना, स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होना, आकर्षणशील होना, सुन्दर दिखना कोई पाप नही है, अधार्मिक नही है, अनैतिक नहीं है। प्रकृततः स्वाभाविक होने के कारण इसीलिए सौन्दर्य को देखना, उसके प्रति आकर्षण होना, सौन्दर्यमयी होकर विचरना न अधार्मिक है और न अनैतिक ही। हमारे ऋषियो ने शास्त्रीय ग्रन्थों में इस सौन्दर्य-दर्शन व प्रदर्शन को भी काम की संज्ञा दी है। नाक, कान, आँख, त्वचा, मन सबसे काम की तृप्ति होती है, जिससे कोई पुरुष और कोई नारी मुक्त नही है न मुक्त रह सकती है। इसके आगे भी काम की परिधि है, जिसे विशिष्ट काम कहकर सम्बोधित किया गया है। सुन्दर इतिहास के युग में, उसके पूर्व और पश्चात् भी ऐसा युग था, जब नर और नारी विशिष्ट काम के लिए भी स्वतन्त्र थे। आज भी संसार के अनेक समाजो मे इस विशिष्ट काम के प्रति कुंठा नही है। आर्यों ने काम को कभी अनैतिक, अधार्मिक नही समझा। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति उनके सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन के आदर्श थे। उनके दृष्टिकोण से मोक्ष प्राप्ति, मुक्ति की अवस्था, जन्म-मरण से मुक्ति, काम की प्राप्ति के बिना भी असदिग्ध रूप से असम्भव थी। जीवन को—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास की अवस्थाओं मे विभक्त किया था और यह सब इसलिए कि जीवन की इन अवस्थाओ मे ही चारो उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाय। मृत्यु के बाद मुक्ति उनकी कल्पना मे नहीं थी। न उनका आदर्श ही थी। वे जीवन को प्रधानता और महत्त्व देते थे, मृत्यु को नही। जीवन की समस्त

आवश्यकताओं की, इच्छाओं की, कामनाओं की, वासनाओं की तृप्ति उनके जीवन का आदर्श था। जीवन में ही यदि समस्त कामनाओं से मुक्ति मिल जाय तो फिर जीवन अपने आप में एक निरर्थक अस्तित्व रह जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने आप मे, अपने मे दिलचस्पी खो देता है। अपनी समस्त क्रियाओं के प्रति उदासीन हो जाता है। इच्छाओ से मुक्ति ही जीवन मुक्ति है। मानव की ऐसी परिस्थिति में मृत्यु सहज और स्वाभाविक हो जाती है। इच्छाओं से मुक्ति के बाद मृत्यु स्वयं अपने आप में जीवन का एक अनुभव मात्र रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त इच्छाओ की तृप्ति के बाद न इच्छा रहती है, न जीवन और मृत्यु ही। मृत्यु को भी जीवन मे जी लेने का नाम ही मुक्ति है। इस प्रकार की विचारधारा, यह आदर्श आर्यों के जीवन का था। यह सनातन धर्म है, शाश्वत है।……इस दृष्टिकोण की पृष्ठ-भूमि मे यदि कोई पुरुष, कोई स्त्री, कोई कुमार, कोई कुमारी बनती-सँवरती है, बन-सँवर कर विचरती है, तो यह बुरा नही है, अनैतिक नहीं है, अधार्मिक नही है। घर में, समाज में, जो बड़े-बूढे अभिभावक अपने आश्रितो को इस सौन्दर्य दर्शन-प्रदर्शन के लिए रोकते-टोकते हैं, वे उनके व्यक्तित्व को सहज स्वाभाविक रूप मे अभिवृद्धि प्राप्त कराने मे बाधक ही बनते है। दमन से आश्रितो का व्यक्तित्व उभरकर प्रकाशित नही होता, बल्कि कुठाग्रस्त होकर वे अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए दूसरे अस्वाभाविक रास्ते ढूंढते है। जीवन के कष्टों की, विषमताओं की, कुठाओं की यह भी एक शुरूआत है।"

कुछ क्षण अपने कथन की प्रक्रिया को जानने के लिए वह मौन हो गयी। उपस्थित वृन्द ध्यानमग्न हो उसके वक्तव्य को सुन रहा था। सगीत के पाठ व अभ्यास के उपरान्त रतिप्रिया प्राय. अपनी छात्राओं के समूह को इस प्रकार की चर्चाओं से प्रशिक्षित करती रहती थी। अपने जीवन की उपलब्धियो से उसे सन्तोष था। उसका विश्वास था कि नारी निडर, स्वस्थ, शिक्षित और कुंठाहीन होकर ही अच्छी बेटी, बहिन, पत्नी और माँ बन सकती है! इन गुणों से रहित नारियो को ही उसने पतित होते पाया था। कुछ ही क्षणो की चुप्पी के बाद उसने

सुना—

"फिर बड़े-बूढ़े समझदार गृहस्थ के लोग अपनी बहू-बेटियों के बनाव-शृगार की हरकतों को बुरा क्यों मानते हैं ?"

"वे उसे बुरा नही मानते। बुरी उच्छृंखलता है। उन्हे सामाजिक जीवन का, उसकी विषमताओं का ज्ञान है। वे नही चाहते कि किसी आवेश में आकर उनके रक्षित, आश्रित पथ-भ्रष्ट हों। उनकी रक्षा का, उनके सुख का, उनके जीवन की प्रगति का उन पर उत्तरदायित्व है। पतन के पथ से अपने अनुभव के कारण वे अपरिचित नही हैं। जब अपने आश्रित या रक्षित की गति वाछित समय मे पहले एक सुरक्षित सीमा के पार पहुँचती हुई मालूम देती है, ऐसे समय में उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसे आशकित भय की सूचना से अवगत करा दें। सयम के प्रति सचेष्ट करना बुरा नही है, बल्कि हितकर है। नियन्त्रण अभीष्ट है, परन्तु दमन किसी भी परिस्थिति में श्रेयस्कर नही है।"

"मेरे प्रश्न का क्या हुआ, बहिनजी ?"

"यह सब उसी की भूमिका थी। इस सम्बन्ध मे अनुभव व रुचि प्रधान है। सड़को पर, समारोहों मे, उत्सवो पर, यह लक्ष्य रखकर आप देखें कि किस रंग पर कौन-सा रंग खिलता है। अपने आप मे कोई रंग खराब नही है। अच्छा और बुरा सब सापेक्षिक है। स्वास्थ्य के लिए श्रम अत्यावश्यक है। अस्वस्थ शरीर पर कुछ भी नही फबेगा। स्वस्थ शरीर पर सब कुछ शोभा देगा। पर, एक बात सदैव याद रखो। नारी का, कुलागना का भूषण लज्जा है, सयम है। उसकी आँखों मे से उसके अन्दर को जाना जा सकता है। इन्ही की भगिमाओं से स्त्री और पुरुष नारी की स्वाभाविक दुर्बलताओं को पकडते है। इन्हे अपने नियन्त्रण मे रखना, वश मे करना सीखो, कलापूर्ण इसका नियन्त्रण-शिक्षण नारी के लिए अत्यावश्यक है। आँखो की पुतलियो और पलकों की क्रियाशीलता, गतिशीलता, सचालनशीलता मे इस नियन्त्रण का रहस्य छिपा है। जो स्त्री इस नियन्त्रण मे दक्ष हो जाती है, समझ लो, उसने नारी जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या को सुलझा लिया, एक उपलब्धि प्राप्त कर ली। नारी जीवन को सुख से जीने की एक कला उसने सीख ली।"

"परन्तु, यह सम्भव कैसे है, बहिनजी ?"

"यह सर्वसम्भव है और बड़ी सरलता से। यह सामने ही विशाल दर्पण है। गान के समय, नृत्य के समय क्या तुम इसमें अपनी मुखमुद्राओं को, शारीरिक मुद्राओं को, अग संचालन को देख-देखकर यथेच्छा, शुद्ध नहीं करतीं ? मन की इच्छा, मस्तिष्क के विचार, हृदय के भाव पहले आँखों में लाना सीखो। चेहरे पर आने के बाद ही वे आँखों में आ सकेंगे। भ्रू, पुतली, पलक, उसके रोएं किस मांस-पेशी की गतिशीलता से, उसके सचालन से कैसे प्रभावित होते है, यह जानना तब आवश्यक होगा। निरन्तर अभ्यास से इच्छा, भाव, विचार का सप्रेषण आसान होता जायगा और एक दिन यह इतना स्वाभाविक हो जायगा कि किसी के यथेच्छा प्रेषण में किसी प्रयास की आवश्यकता ही नही होगी। पुरुप की अपेक्षा नारी के लिए यह अधिक सुलभ और स्वाभाविक है। क्या तुम देखती नही हो कि एक किशोरी की आँखें लज्जा से किस प्रकार स्वभावतः, स्वतः झुकती-उठती हैं? पलकें ही नारी की स्वभावसिद्ध लज्जा का आवरण हैं। परन्तु, नारी जब उनसे यथेच्छा, यथावश्यकता, काम लेना सीख लेती है, तभी वह नारीत्व की, उसके लालित्य की प्रतिमूर्ति बन जाती है। ऐसी ही वे नारियाँ थीं, जिन्होंने ससार के ऐतिहासिक पुरुषो को अपनी मुट्ठी में रखा; किसी नारी के लिए भी अपने क्षेत्र मे अपने पुरुष पर अधिकार प्राप्त करना मुश्किल नही है। पुरुष को उसने अपने पेट से पैदा किया है। अगुली पकड़कर उसे चलना, दौड़ना, बोलना सिखाया है। पुरुष के सम्बन्ध में वह उसकी दया की पात्र नही। कोई भी पुरुष उसकी स्पर्धा के योग्य नहीं। उसके लिए वह करुणा का, दया का पात्र सदैव रहा है और रहेगा भी। क्लिओपेट्रा, ईवाब्राउन, जोसेफाइन, आम्रपाली इसके ज्वलन्त उदाहरण है, जिनके एक सकेत पर क्रमशः ब्रूटस, हिटलर नेपोलियन, अजातशत्रु जैसे प्रसिद्ध पुरुप बड़े से बड़ा खतरा उठाने के लिए तैयार थे।"

"परन्तु···"

"परन्तु क्या ? मात्र एक सयम के अभाव मे पुरुष नारी पर हावी होता है। नारी काम की आगार है, मेरी छोटी बहिनो ! और काम एक

जीवन-विधायिनी शक्ति है, जिससे सारा विश्व अनुप्राणित है। उत्पत्ति, स्थिति और लय इसी की प्रेरणा के फल हैं। यह अजेय है। इसकी प्रेरणा अदम्य है। प्राणियों में यह एक सार्वजनीन और सार्वकालीन प्रवृत्ति है। विश्व का समस्त साहित्य इसकी अभिव्यंजना से सरस, सुकृत और सफल हुआ है। जहाँ एक ओर इसका विकृत रूप हीनतम विकारों की, अनिष्टों की सृष्टि रचता है, वहाँ दूसरी ओर अभ्युदय और महोदय की चरम प्रतिष्ठा प्राप्त कराने में यह सक्षम है। जीवन में इसे उपेक्षा और उदासीनता की दृष्टि से देखना, बरतना जीवन को ही नकारना है। भारत में काम की गणना एक पुरुषार्थ के रूप में की गई है। इसे अश्लील और हेय भारतीय मनीषियों द्वारा कभी नहीं माना गया। इसलिए नारियों को अपनी काम की सर्व प्रभावमयी शक्ति को पहचानना चाहिए। विवेकशील संयम से वे इसे चाहे जिस अर्थ के लिए सफलतापूर्वक काम में ले सकती हैं। वस्त्र, वाणी, रहन-सहन, व्यवहार सब जब संयत, नियंत्रित, अधिकृत हो जाता है, तभी नारी अपनी शालीनता के सौंदर्य से प्रभावशील बनती है।···वस्त्र और चाल भी शालीनता के परिचायक हैं। जहाँ कीमती वस्त्र और जेवर सदैव स्पर्धा, ईर्ष्या, शत्रुता और भय को आमन्त्रण देते है, वहीं सादगी शालीनता को उजागर करती हैं। गौर रंग पर प्रत्येक रंग शोभा देगा। श्यामल वर्ण पर हल्के रंग प्राय. पसन्द किये जाने चाहिये। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि स्वास्थ्य और शालीनता सर्वोपरि हैं।"

"क्या काम और शालीनता साथ-साथ रह सकते हैं?"

"निश्चय ही। नंगेपन से काम-शक्ति का प्रदर्शन नहीं होता। शयन-कक्ष के वस्त्र उसके बाहर के वस्त्र कभी नहीं होने चाहिए। सभ्य देशों की परम्पराएँ भिन्न होते हुए भी उनमें एक साम्य है; काम-शक्ति और सौन्दर्य के प्रदर्शन के प्रति एकरूपता है। और वह यह है कि नारी के जिस अंग पर पुरुष की दृष्टि स्वभावत. पड़ती है, उसे आवृत रखा जाता है। वक्ष कभी नंगे और खुले नहीं रखे जाते। आवरण उनके रहस्यमय सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है। अपनी रहस्यमयता को खो देने के बाद नारी काम की विश्वविजयिनी शक्ति नहीं रहती। वह एक बाजार की

वस्तु बन जाती है। सुन्दर दिखने की प्रवृत्ति काम की ही प्रवृत्ति है। सौन्दर्य के प्रति, सुन्दर के प्रति आकर्षित होने की प्रवृत्ति, उसे देखने की प्रवृत्ति भी काम की प्रवृत्ति है। कौन रंग किस समय मे, किस मौसम मे, किस रंग के साथ कैसे खिलेगा, यह विचार, यह लालसा सब छिपी हुई काम-चेतना के सिवाय और कुछ नही। बालपन से जरा तक सुन्दर व सौम्य दिखने की प्रवृत्ति मानव जाति में नही जाती। निरन्तर अभ्यास से, व्यवहृति से चाहे कोई उसकी सुगमता के कारण उसे महसूस न करे, परन्तु, फिर भी काम के अस्तित्व से—उसके प्रच्छन्न प्रभाव से इंकार नही किया जा सकता। समाजों मे विविध रगो पर, विविध वस्त्रों के रंगों के मेल पर, उनके सामंजस्य पर दृष्टि रखकर आप व्यावहारिक रूप मे अपने लिए अपनी पसन्द के निर्णय पर इस सम्बन्ध में पहुँच सकती हो। अपने कक्ष के शीशे की प्रतिच्छाया से भी आपकोअपने योग्य निर्णय का अनुभव प्राप्त हो सकता है। काम को अपनी हीनता न समझो। यही तो नारी की अपनी एकमात्र प्राकृतिक शक्ति है, जिसके बल पर वह ससार को अपने आगे झुका सकती है। नारी के लिए काम को नकारना अपने अस्तित्व को नकारना है। जीवन के रस को, उसके माधुर्य को खो देना है।"

इतने मे ही दीवार की घड़ी ने चार बजा दिये। रतिप्रिया अपने स्थान से उठ खडी हुई। उपस्थित कुमारियों ने भी उठकर उसका अभिवादन किया। परन्तु, अब तक घर का सहायक सेवक स्थालिका मे चाय लेकर उपस्थित हो गया था। वह पुनः बैठ गई। एक कुमारी द्वारा बढाई हुई प्याली को लेकर उसने पीना शुरू कर दिया। अन्य कुमारियो ने भी साथ चाय पी। सिर्फ एक बार उन्होंने रतिप्रिया से फिर सुना—

"नारी के लिए प्रश्न शक्ति का नही है। वह उसकी स्वामिनी तो है ही।...उसके लिए समस्या उस अपनी शक्ति के सचय और संयम की है।...उसके व्यवहार की है।"

रतिप्रिया जब कक्ष से बाहर आई तो घर की एक प्रौढ़ा ने विनीत होकर उसके हाथ में एक पत्र दिया। मुस्कराकर उसने उसे ले लिया और बिना पढ़े ही वह अपने लिये इन्तजार करती हुई गाड़ी की ओर अग्रसर हुई। उसके बैठते ही चालक अपने गन्तव्य पथ पर वाहन को ले चला।

रतिप्रिया को इस नगर में आये करीब चार वर्ष बीत गये थे। शुरू में जिस आदमी के साथ वह आई, अब वह इसके साथ नही था। उसके चले जाने के बाद चार-पाँच व्यक्तियों से और भी उसका संपर्क रहा, परन्तु, वे भी एक-एक करके चले गये। रतिप्रिया की सामाजिक प्रतिष्ठा उन सबके उसके यहाँ आने-जाने के कारण घटी नही थी तो बढी भी नही थी। वे प्रायः सब ऐसे व्यक्ति थे, जो उसके रूप, सौन्दर्य, यौवन, व्यवहार आदि से आकर्षित होकर उसके यहाँ आये थे, परन्तु अपनी किसी स्वार्थ-सिद्धि की शीघ्र सफलता न देखकर वे स्वतः ही शनैः-शनैः दूर हो गये। यह बात नही थी कि किसी का उससे झगड़ा या मनमुटाव हुआ हो, परन्तु समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति होने के कारण उन्होने अपने अर्थहीन आवागमन को समाप्त करना ही अपने लिये श्रेयस्कर समझा था। रतिप्रिया को इस सबसे न दुःख था, न क्लेश ही। जीवन की अनुभवशीलता ने उसे प्रत्येक प्राप्त परिस्थिति से मुकाबला करने की शक्ति दे दी थी। अपनी रमणीयता के प्रति, उसकी शक्ति के प्रति, वह सजग थी। व्यवहार में कुशलता से उससे काम लेना भी उसे आता था। पुरुष के प्रति उसका विद्रोह नही था। शकाएँ थी जिन्हें वह अपने सयम से दूर करती रहती थी।

आज वह घर आई तो अजय सो रहा था। उसने देखा कि खाने की थाली एक ओर मेज पर पडी हुई है। उसे मालूम हो गया कि उसने खाना खा लिया है। उसके तकिये के सहारे दो-तीन ग्रन्थ एक ओर पड़े हुए थे। वात्स्यायन का कामसूत्र भी उनमे एक था। एक साहित्यिक ग्रन्थ था, कालिदास ग्रन्थावली। एक कला के सम्बन्ध मे छोटी-सी पुस्तिका थी। उसने आकर अपना शाल समेटकर कुर्सी की पीठ पर

रख दिया। कपाट पर हल्का-सा हनन हुआ। वह द्वार की ओर बढ़ी कि अजय बिस्तर पर उठ बैठा। अब तक उसकी तथाकथित माँ सामने आ गई थी। पूछा—

"चाय ले आऊँ ?"

"अवश्य।"

"नींद मे विघ्न तो नही पडा ?"

"बिल्कुल नही। आज तो खूब सोया।"

"अब अपरिचित नही रहे न।" साथ ही उसके चेहरे पर एक हल्की हँसी खेल गई।

"आपने वात्स्यायन और फ्रायड दोनो को पढा है ?"

"क्यों नही ?"

"क्या अन्तर है ?"

"एक आदर्शवादी है, दूसरा यथार्थवादी।"

"और आप ?"

"मैं दोनों हूँ।"

"मतलब ?"

"मेरे विचार से दोनो एक दूसरे के पूरक है। ज्ञान की इति कही नही है। समय के साथ सामाजिक विषमता बढने पर और भी नए काम के रूप और सिद्धान्त दृष्टि मे आ सकते है। वात्स्यायन धर्म से काम की ओर अग्रसर हुए है। फ्रॉयड की प्रवृत्ति, मेरे विचार से काम से धर्म की ओर बढी है। परन्तु दोनों ने मानव और समाज को महत्व दिया है। उसके सुनिर्माण की ओर दोनों की चेष्टा है, उसके विनाश की ओर नहीं। वात्स्यायन वास्तव में समाजशास्त्री हैं और फ्रॉयड मनोवैज्ञानिक। आधुनिक साहित्य पर जो प्रभाव उनके मनोविज्ञान का है, वह उनके पूर्व के साहित्य मे नही मिलता। परन्तु यह निश्चित है कि दोनो जीवन में काम की प्रमुखता को स्वीकारते हैं। समाज का विघटन, व्यक्ति का विनाश दोनो मे से किसी का भी ध्येय नही है। दोनो इसे अश्लील, असामाजिक नहीं मानते। सयम इसीलिए दोनो का आदेश और उपदेश है।

"क्या कान, आंख, त्वचा, जिह्वा, नासिका की अनुकूल प्रवृत्ति पर काम की तृप्ति सभव है ?"

"निश्चय ही ।"

"जैसे ?"

"आप ।"

"मैं समझा नही ।"

"क्या मुझे देखने से, मेरी वाणी सुनने से, मेरे स्पर्श से, मेरी संस्पर्शित वायु से आपको आनन्द नही मिलता है ?···छिपाइये नही, जवाब दीजिये, यह कोई बुरी बात नही है । असाधारण भी नही है ।"

"मिलता है ।"

"यही काम है । यदि यह प्राप्त नही होता तो आप यहाँ आते नही । आकर ठहरते नही । इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होती है और मन अन्त.करण, और आगे बढिये तो आत्मा है । आत्मा को चाहे कोई न माने परतु वात्स्यायन तो मानते थे । उनके अनुसार आत्मा मात्र साक्षी है, अकर्ता है, इसलिए बुद्धि से मन विविध सुखो का उपभोग करता है । यह सुख काम का ही फल है । वात्स्यायन और फ्रॉयड दोनो ने यह मत व्यक्त किया है कि शरीर के अगो की सुखद उत्तेजनाएँ और परितुष्टियाँ कामक्षेत्र की लीलाएँ है । स्त्री-पुरुष दोनो परस्पर मे एक-दूसरे के लिए काम के आयतन हैं । समप्रयोग से दोनो के कामजनक क्षेत्रों मे उत्तेजनाएँ बढ़ती हैं । चुम्बन, आलिगन, परिरभण आदि-आदि पारस्परिक व्यवहार इसी के फल हैं । सृष्टि का मनोरथ, उसकी कामना पूर्ति फिर आगे की प्रक्रिया है । ये व्यक्ति के अपने—आभिमानिक सुख हैं । इनके साथ विशेप स्पर्श के विपय से जो अर्थ प्रतीति होती है, वह विशिष्ट अथवा प्रधान काम है । परस्पर में जननेन्द्रियो का विशेप स्पर्श ही सहवास की भूमिका को पैदा करता है । इन्ही की भूमिका पर सृष्टि की सम्भावनाएँ फिर विलसित और मुखरित होती है । यही श्रम है, प्राकृतिक प्रक्रिया है, जिस पर समस्त स्थिति, सारा अस्तित्व आश्रित है ।"

"क्या सारे स्त्री-पुरुष इस एक नियम से शासित है ?"

"यह सार्वजनीन है ।"

"आपके लिए भी लागू है ?"

"मैं अपवाद नहीं हूँ।"

"देवी रतिप्रिये ! फिर मैं इसके सुख से वंचित क्यों हूँ ?" अजय अपनी घनिष्ठता में सभ्यता की सीमा से बाहर हो गया था। रतिप्रिया को हँसी आ गई। अपने को सयम में रखते हुए वह बोली—"साधारण काम सुख के तो आप अधिकारी रहे ही हैं ? रहा विशिष्ट काम सो···"

"सो क्या ?"

"वह जीवन में कभी तो आपने प्राप्त किया ही होगा।···अजय बाबू ! भ्रमर एक उद्यान के समस्त फूलों का रसास्वादन नहीं कर सकता। एक शहर में भी अनेक उद्यान होते हैं। पृथ्वी के समस्त उद्यानों और उनमें खिले फूलों की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। शरीर सीमित होने के कारण उनकी, स्त्री-पुरुष के सम्पर्क की एक सीमा है। सीमा में रहना ही सयम है। क्षेत्र, शक्ति, सामाजिकता सभी दृष्टियों से व्यक्ति को संयत रहना चाहिए। काम का सम्प्रयोग भी पारस्परिक वेदनाओं पर आश्रित है। प्रत्येक व्यक्ति इसलिए प्रत्येक अन्य व्यक्ति को चाहे जब, चाहे जैसे प्रभावित नहीं कर सकता। इच्छा, लालसा, साधन, अवसर, संवेदना और भी न जाने क्या-क्या व्यक्त, अव्यक्त चेतना, अवचेतनाओं पर यह विशिष्ट काम व्यवहार आश्रित है, कोई कुछ नहीं कह सकता। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ व विवशताएँ होती हैं। नारी काम का आयतन होते हुए भी वह नष्ट, भ्रष्ट, पतित होना नहीं चाहती। वह आत्मरक्षा और अहम् का महत्व जानती है। रतिप्रिया जानती है कि काम आहार की तरह शरीर में अनेक विकृतियाँ और उन्माद पैदा करने में सक्षम है, उनके पोषण की शक्ति से भी वह अपरिचित नहीं है, परन्तु साथ ही उसे यह भी ज्ञान है, अनुभव है कि उस काम का कितना, कब, कैसे, कहाँ आश्रय लिया जाय।"

"जीवन में आपका ध्येय क्या है ?"

"अब न ?"

"हाँ।"

"शिक्षण द्वारा सामाजिक सेवा।"

"और स्वयं का सुख ?"

"मुझे उसमें सुख मिलता है।"

"शारीरिक सुख ?"

"वह भी।"

"मेरा अभिप्राय विशिष्ट कामजनित सुख से है।"

"उसकी अभी मैं आवश्यकता नही समझती।"

"आवश्यकता आ पड़ी फिर ?"

"फिर मैं परहेज नहीं करूँगी।···आपका ही आमन्त्रण कर लूंगी।" साथ ही कुछ स्मित की रेखाएँ उसके होंठों पर आ गईं, जिससे उसका सारा मुखमण्डल एक मोहक रमणीयता से दीप्त हो उठा। अजय की दृष्टि झुक गई। इस अवसर पर रतिप्रिया उसके लिए एक समस्या बन गई थी। उसने अपनी हीनता को महसूस किया। कुछ क्षण के लिए कक्ष मे शान्ति छा गई, जिसे एक दस्तक ने भंग किया। घर की परिचारिका चाय लेकर आ गई थी। उसके चले जाने पर दोनों ने चाय पीना प्रारभ कर दिया। अजय ने उसे सुबह के खाने के लिए पूछा, परन्तु रतिप्रिया के यह कह देने पर कि काम की व्यस्तता के कारण उसे वह खाना नसीब नही होता, वह हतप्रभ रह गया। अजय रतिप्रिया की स्पष्टवादिता पर मोहित था। अपने जीवन में अब तक उसे ऐसी नारी से वास्ता न पड़ा था, जो यौन विषय पर इतनी स्वतन्त्रता से चर्चा कर सके। वह स्वय भी सभ्य समाज में इसकी चर्चा से अनभिज्ञ और अपरिचित था। चाय के कुछ घूंट गले से नीचे उतारने के बाद रतिप्रिया ने ही मौन भग किया। वह बोली—

"अजय बाबू ! यह सत्य है कि नारी उज्ज्वल पुरुष के प्रति आकर्षित होती है और पुरुष सुन्दर नारी के प्रति। अहम् दोनों में होता है, परन्तु पराहम् पुरुष में अधिक विकसित होता है। इसीलिए वह आसक्त होते हुए भी, अपने अधिक अनुभव के कारण, धर्म-स्थिति, शिष्टाचार, सामाजिकता का विवेक रख सकने में समर्थ है। स्त्रियों के पतित होने का कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, पराहम् के विकास का अभाव है। उसकी आसक्ति को जब उचित उद्रेक नही मिलता, वह पुरुषाश्रित

अन्त.पुरो मे जहाँ स्त्रियो ही स्त्रियो का जमघट हो जाता है, विपरीत रति में वे अपनी शक्ति को खर्च करती है। वैसे ही जैसे पुरुष छात्रावासों व मठो मे।···इच्छा, विचार, भाव सभी प्राणियो मे, तुष्टि का रास्ता खोजते हैं। कितना ही अव्यक्त, अचेतन, दमित सस्कार अपना मार्ग बनाए विना नही रह सकता। कुण्ठा, रोग, स्वप्न इनके अप्राकृतिक निर्गम द्वार है। सयत भोग, उपभोग, सभोग जीवन की सुखमय स्थितियाँ हैं।··· उपनिषद् और काम-सूत्र के तात्विक विवेचन मे कि खाने वाला और खाई जाने वाली वस्तु दोनो अन्न हैं, अन्न के इस विशद अर्थ मे 'काम' और 'आहार' मे कोई अन्तर नही रह जाता। फ्रॉयड ने कहा है कि जो समाजशास्त्री सभ्य लोग—मैथुन, वासना, सभोग, काम-शक्ति को अपनी शीलता के कारण जुबान पर नही लाना चाहते, उन्हे ऐरास शब्द का प्रयोग करना चाहिये जिसका अर्थ पोषण शक्ति है। आहार भी पोपक है। अस्तित्व की वासना की अभिव्यक्ति आहार ग्रहण मे होती है, अजय बाबू ! उस वासना के जितने भी रूप है वे सब 'काम' हैं।"

"क्या आप इन सबकी शिक्षा देती हो ?"

"निश्चय ही।···और क्यो नही ?···कामजनित सुख ही ऐसा सुख *जिससे परमानन्द की अनुभूति होती है।···काम ही सर्व जीवन भाव* मे ओतप्रोत है। मानव की दारैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा सभी इसी काम के द्वारा सचालित होती हैं। यही जीवन के सौन्दर्य और माधुर्य का उत्स है। लौकिक हो, चाहे आध्यात्मिक, सभी साधनाएँ इसी पर अवलम्बित हैं। सस्कृति की यह आधारशिला है। इसकी सम्यक् सन्तुष्टि पर समाज की समुन्नति और अखण्डता आश्रित है। इसके दिशा निर्धारण पर ही श्रेयस् और प्रेयस् प्राप्त किये जाते हैं। गृहस्थ की, परिवार की आधारशिला भी यही काम है।"

अजय ने देखा कि रतिप्रिया स्वतन्त्रतापूर्वक, बिना किसी हिचक के यौन विषय पर चर्चा कर सकती है। उसके लिए यह एक नवीन और अनुपम अनुभव था। उसने साथ ही यह भी अनुभव किया कि उसकी चर्चा मे अश्लीलता नही है। जिस अश्लीलता का उसने अपने आगमन के प्रथम दिन यहाँ दर्शन किया था, उससे आज की रतिप्रिया बहुत दूर थी। उसने

साहित्य पढा था, कलात्मक प्रदर्शन देखे थे, सगीत की गोष्ठियो मे भाग लिया था, विविध समाजों में सम्मिलित होकर वहाँ के रागरग देखे थे, परन्तु उन सब मे इन्द्रियजनित सुख और आनन्द प्राप्त करते हुए भी उसने काम की गरिमा व ज्ञान को प्राप्त नही किया था। उसके लिए अभी तक यौन एक रहस्यमय अनुभूति थी। रतिप्रिया के अल्पकालीन सम्पर्क ने ही उसे एक ज्ञान दृष्टि दी, जिसके कारण सामाजिक व्यक्ति की अनेक कुठाओ और विषमताओं की तह तक पहुँचने की उसकी शक्ति मे तीक्ष्णता आ गयी। आज उसने समझा कि रमणी रतिप्रिया का दूरस्थ सम्पर्क भी क्यों आनन्द-दायक है। अपनी पत्नी की स्मृति भी उसे कामजन्य घटना ही प्रतीत होने लगी। घर, उसकी सज्जा, सामग्री, रतिप्रिया का व्यवहार, उसकी वाणी, उसके वस्त्र, वह स्वय उसके एक परिष्कृत काम-कौशल के प्रतीक उसे मालूम दिए।

अब तक दूसरी ताजी चाय की केतली और आ गई। रतिप्रिया ने अजय की ठण्डी चाय को एक खाली गिलास मे उडेल कर उसके प्याले को ताजी गरम चाय से पूरित कर दिया। अपने चाय के प्याले को भरते हुए वह बोली—

"अजय बाबू, नारी और पुरुष, पति और पत्नी काम को अश्लील समझने के कारण एक-दूसरे के इतने नजदीक नहीं जाते, इतने दूर रह जाते हैं कि शरीर मिलन करते हुए भी उनका आत्म-मिलन नही होता। इच्छा, भाव, विचार से एक हुए बिना एकात्म अथवा एक-कर्म होना असम्भव है। परमानन्द, ब्रह्मानन्द एक मात्र आनन्द की सीमाएँ तभी पहुँची जा सकती हैं, स्पर्श की जा सकती है, प्राप्त की जा सकती है, जब युगल एकात्मभाव की अनुभूति एक साथ करे। यही वह विशद काम की मजिल है जहाँ मात्र 'सीत्कार' महामंत्र के और कोई शब्द, अक्षर उच्चरित नही होता। 'सीत्कार' ही काम वेद की, कामसूत्र की—काम-क्रिया की एकमात्र ऋचा है जो ब्रह्म का, ब्रह्मानन्द का, एकत्व का, मात्र एक का साक्षात्कार कराता है। अजय बाबू ! जो जीवन में अश्रेय हो, अप्रेय हो, त्याज्य हो, अहितकर हो, हेय हो, क्या उससे इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति हो सकती है ? और यदि नही तो समाज

पुरुष, उसका सभ्य समाज क्यों इसके ज्ञान से, क्यों इसके शिक्षण से परहेज करता है ?"

"इस प्रकार की शिक्षा के कोई संस्थान भी तो नही हैं।"

"सस्थान तो बन सकते हैं। किसी सामाजिक कार्यकर्ता का इसकी ओर ध्यान ही नही गया। इसके सम्बन्ध मे, इसके विरुद्ध लोग पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं। यह बात नही कि काम के बिना किसी का काम चलता हो। सभ्य-से-सभ्य लोग, बड़े-से-बडे अफ़सर अपनी काम तुष्टि के लिए भ्रष्टाचार की, नैतिक पतन की शरण ले लेंगे, पर गृहस्थी को स्वर्ग बनाने की चेष्टा नही करेंगे।"

"आपको यह कैसे मालूम ?"

"अजय बाबू ! आपकी इस रतिप्रिया ने जीवन की अनेक विभिन्नताएँ देखी हैं। उन सब मे तो अभी जाने की आवश्यकता नही। परन्तु, यह बता देना चाहती हूँ कि उसमे कुछ अरसे 'सेल्स गर्ल', 'कॉल गर्ल', स्वागती व मुशी अथवा सैक्रेटरी का काम भी सस्थाओं मे व व्यक्तियो के साथ किया है। उससे व्यक्तिगत अनुभव है, कि बडे-से-बडे अफसर, बड़े-से-बडे विद्वान, बड़े-से-बड़े समाज सेवी, मन्त्री, सुधारक, सुधारवादी सब विवाहित होते हुए भी अपने गृहस्थ जीवन मे काम के सम्बन्ध मे अतृप्त थे। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि सुन्दर सजी हुई रमणी के साथ एकान्त मिलते ही उनका सब बड़प्पन प्रायः अनावरित हो जाता था। उस समय के अपने स्वय के व सहेलियो के अनुभव से मुझे ज्ञान हुआ कि एक रमणी का, एक कामायनी का, पुरुष पर क्या प्रभाव होता है। अपने पुरुष पर तो उस प्रभाव का फिर अन्दाजा भी नही लगाया जा सकता। उसी अनुभव से मुझे मालूम हुआ कि विचारा पुरुष, समाज की दृष्टि मे, महान होते हुए भी एक रमणी के समक्ष कितना विवश है, कितना क्षुद्र है। अपने उसी अनुभव के कारण आज मैं कह सकती हूँ कि हमारी गृहस्थियों मे, घरो मे, पुरुष और नारी दोनों के लिए सम्पूर्ण काम सन्तुष्टि की पूरी व्यवस्था ही नही है। इसीलिए परिवार टूटते हैं, सयुक्त कुटुम्ब की प्राचीन व्यवस्था बिखर रही है। एक बड़ा अफसर, एक मन्त्री, औद्योगिक सस्थान का एक बड़ा प्रशासक अथवा व्यवस्थापक जब अपने

अभिकर्ता, प्रतिनिधि अथवा दलाल को यह कहता है कि उसे पैसा नहीं चाहिए, वह उसके पास बहुत है, उसे औरत चाहिए यदि काम कराना है तो उसका इन्तजाम करो, तब उसकी असन्तुष्टि, उसके गृहस्थ जीवन का खोखलापन, अपनी समस्त विभीषिका के साथ सामने आ जाता है। यह सब मैंने, मेरी परिस्थितियों में रही नारियों ने देखा है, जाना है, अनुभव किया है।···अजय बाबू ! क्या ऐसे व्यक्तियों के पतन की विविध सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं ?···रतिप्रिया जानती है कि गृहस्थ, उसकी नारियाँ उसकी पत्नियाँ और कुमारियाँ काम के इस अत्यावश्यक विषय से अपरिचित हैं जिसके कारण एक सर्वसाधनसम्पन्न गृहस्थी भी स्वर्ग के सुख देने की बजाय नरक की यातनाएँ देना प्रारम्भ कर देती हैं। अजय बाबू ! बहुत थोड़े से गृहस्थ, परिवार, ऐसे होंगे जो इस काम की अशिक्षा के दुष्परिणामों से स्वतन्त्र हों। समाज के सुख को, अपने देशवासियों के वास्तविक सुख को सुरक्षित रखने के लिए आपकी रतिप्रिया ने कुछ समय पहले यह निश्चय किया कि उसे काम की शिक्षा का यह काम अपने जिम्मे लेना चाहिये। प्रारम्भ में कुछ रुकावटें अवश्य आईं। परन्तु, आज स्थिति भिन्न है। अनेक परिवारों में उसका जाना-आना हो गया है। शौक से, बड़ी उत्सुकता से अनेक कुमारियाँ, पत्नियाँ अपनी-अपनी समस्याएँ मेरे सामने रखती हैं। अनेक को मेरे सुझावों से सन्तोष है। अपनी सफलता पर मुझे अभिमान है। इसी से मेरी रोटी-रोजी चल जाती है; समाज का उपकार भी हो जाता है।"

"क्या किसी परिवार में, उसके पुरुषों ने आपके साथ अभद्र व्यवहार नहीं किया ?"

"छोड़ो इस बात को, अजय बाबू ! पहले तो परिवार में एक चरित्रहीन पुरुष भी सद्व्यवहार का ही नाटक रचता है। नारी से प्रोत्साहन मिलने पर ही उसकी हिम्मत बढ़ती है। यदि वह नहीं मिलता तो प्रायः पुरुष अपनी उचित सीमा में रहते हैं। अपवाद न हो ऐसी बात नहीं है। उस दिन भी तो वह पत्र आपने देखा था। एकान्त मिलन की अनेक वैसी याचनाएँ आती हैं। पर, मेरे पर प्रभावशील नहीं हैं। उपेक्षित होने पर स्वतः सब बन्द हो जाता है।"

"ऐसी परिस्थिति में फिर आप···?"

"क्या करती हूँ, यही न ?"

"हाँ !"

"अपने पर सयम और उनकी उपेक्षा।"

इतने में ही नीचे कुत्ते के भौंकने की आवाज आई। रतिप्रिया ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—

"जो आपके साथ करती हूँ। जो साथ बैठने के लायक होता है उसके साथ बैठकर चाय पी लेती हूँ। बातचीत के लायक होता है उससे इधर-उधर की कुछ बात कर लेती हूँ। उसके साधारण काम की तुष्टि हो जाती है। बस।···देखिये, मेरा 'जॉनी' भौंका है। किसी अपरिचित के आगमन की सूचना है। मैं अभी आई।" और इतना कह वह कमरे के बाहर होकर पैड़ियों से नीचे उतर गई। आगन्तुकों के आगे पालतू 'जॉनी' खड़ा भौंक रहा था। उसके आकर चुप करने पर वह शान्त हो गया। आगन्तुकों में से एक ने पूछा—

"देवी रतिप्रिया का मकान ?"

"आइये; आइये।"

"आप ही हैं ?"

"अब अधिक मत बनिये। आइये।"

पुरुष बोला; "मुद्दत हुई दीदार हुए। गालिब ने खूब समझकर शेर कहा है—

"वहाँ वो गुरुरे अज्जो नाज़, यहाँ वो हिजाबे पासे वजा।
राह में हम मिलें कहाँ, वज़्म में वो बुलाए क्यों।"

साथियों ने दाद दी, "भई, वाह"—उन्होंने सुना। "अब ऊपर तशरीफ ले चलिये। यह लो; माँ भी आ गई।"

"क्या है, बेटी ?"

"अतिथि देवता पधारे हैं। इनके सम्मान में बढ़िया-सी चाय बना-कर जल्दी ले आना।" साथ ही रतिप्रिया नवागन्तुकों के पीछे-पीछे ऊपर चल दी।

"देखो वीणा। स्त्री हो, चाहे पुरुष, इन्सान जब वस्तु बन जाता है, तब उसमे इन्सानियत नही रह जाती। जब किसी व्यक्ति, परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र की आँखें मात्र पैसे, मात्र आर्थिक संपन्नता की ओर केन्द्रित हो जाती हैं फिर वह एक पण्य अथवा बिक्री की वस्तु के अलावा और कुछ नही रह जाता। रुपया, पैसा, संपत्ति साधन हैं, साध्य नही।"

"फिर साध्य क्या है?"

"सुख! …और वह उसे अपने घर में ही प्राप्त हो सकता है। नारी के लिए जिस घर में सुरक्षा, सम्मान, सुख प्राप्त हो वह उसके लिए आदर्श घर है। वह अपने घर की स्वामिनी होती है। वहाँ उसकी स्वतंत्रता को कोई चुनौती नही दे सकता।"

इस समय एक सम्पन्न परिवार के सजे हुए एक कक्ष में रतिप्रिया शालीन-सी महिलाओं के एक समूह को संबोधित कर रही थी। प्रस्तुत गोष्ठी ने प्रश्नोत्तर प्रणाली का रूप ले लिया था। उसने सुना—

"यदि किसी पतिव्रता स्त्री का पति वेश्यागामी हो, परस्त्रीगामी हो जाए, तो क्या उसे उसकी पत्नी ठीक कर सकती है?"

"क्यों नही? निश्चय ही। परन्तु, हर इलाज के पहले, चिकित्सक को रोग के कारण ढूंढ़ने पड़ते हैं। निदान के बिना रोग का इलाज नही होता?"

"जैसे?"

"पुरुष परनारीगमन क्यों करता है?"

"ऐयाशी के लिए।"

"मतलब ?"

समस्त समूह में एकबारगी मौन छा गया। कुछ क्षण के विराम के बाद रतिप्रिया ही बोली—

"कहती क्यों नही कि अपनी काम-तुष्टि के लिए वह वेश्यागमन करता है।"

"यही सही !"

"मैं जानती हूँ कि आप मेरे प्रश्नों का सीधा स्पष्ट उत्तर क्यो नही देती। ···शायद, इसलिए कि गृहस्थ की एक नारी के लिए काम-सम्बन्धी चर्चा करना पाप है, कम से कम शालीनता के बाहर तो है ही। पर ऐसा सोचना ठीक नही है, मेरी बहिनो ! जब धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के आदर्श हैं तो काम की चर्चा के विषय में परहेज क्यों ? क्या धर्म, अर्थ, मोक्ष की चर्चा, उनके अध्ययन, उनकी शिक्षा पर आज तक किसी ने रोक लगाई है ? मात्र काम से सारे संसार की उत्पत्ति हुई है। इस एक काम के ऊपर इस संसार की स्थिति, प्रगति और अस्तित्व कायम है। मेरी, आपकी, आपके प्रियजनों की, हमारे बुजुर्गों की, सबकी उत्पत्ति का कारण एकमात्र यह काम था। फिर वर्जना क्यों ? झिचक कैसी ? अश्लीलता, अशालीनता तो वह है जिसे देख-सुनकर व्यक्ति का मन, मस्तिष्क, हृदय विकृत हो अपनी प्राकृतिक शान्ति को खो दें; अपने विवेक के सन्तुलन व साम्य के प्रति स्तब्ध होकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाय। काम धर्मसम्मत है, शास्त्रसम्मत है, प्रकृतिसम्मत है, स्वभाव-सम्मत है। जीवन में इसके प्रति उदासीन रहना जीवन की नाव को, अपने को, अपने परिवार और समाज को नष्ट करना है। इस एक काम से सारे संसार की उत्पत्ति हुई है। इस एक काम की समझ और उसके अनुरूप उचित व्यवहार के अभाव में सहस्रों-लाखों ही नहीं, करोड़ो व्यक्ति और परिवार ससार सागर की तूफानी लहरो में भटक कर अन्धेरे मे मृत्यु मुखी चट्टानो से टकरा जाते हैं।"

पुनः गोष्ठी-समाज में एक मौन छा गया। कुछ क्षणो के पश्चात् समूह में से एक बोली—

"कारण और उपाय क्या दोनों आप बता सकती हैं ?"

'क्यों नहीं ? पुनः एक चुप्पी छा गयी जिसे भंग करते हुए रतिप्रिया ने कहा—

"मेरे प्रश्नों को सही समझ कर यदि आप उनका उत्तर दें, अपने मन में ही दे लें, तो कारण और उपाय दोनों ही आपकी समझ में आ जायेंगे। जिसे हम जीवन में व्यवहृत करते हैं वह रहस्य नहीं है। आप सब विवाहित हैं ?"

"जी !"

"स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर और पुरुषों का उससे बाहर है ?"

"अवश्य !"

"बाहर से जब पुरुष घर लौटता है तो क्या आप उसका अपनी मुस्कान से स्वागत करती हैं ?

"नहीं।"

"क्या उसके आने की प्रतीक्षा आप बेचैनी से करती हैं ?"

"नहीं।"

"क्या विलम्ब से आने पर उसका कारण पूछती हैं ?"

"नहीं।"

"क्या उसके और अपने कमरे को आप स्वच्छ रखती है ?"

"कभी-कभी !"

"क्या उसकी परेशानी का कारण पूछती हैं ?"

"नहीं।"

"क्या उसकी परेशानी को अपनी हँसी और मुस्कराहट से दूर करने की चेष्टा करती है ?"

"नहीं।"

"क्या उसके आवश्यक वस्त्र उसे समय पर यथास्थान मिलते हैं ?"

"नहीं।"

"क्या आप स्वयं उसके वस्त्रों के चयन में हिस्सा लेती है ? उसकी पसन्द को अपने वस्त्रों के चयन में स्थान देती हैं ?"

"नहीं।"

"क्या आपने उसके खाने-पीने की पसन्द को जानने की चेष्टा की है ?

यदि नहीं तो क्यों नहीं ? यदि हाँ तो क्या उसे यथासमय वे सब प्राप्त होते हैं ? क्या घर लौटते ही आप उसे कुछ एकान्त क्षण देती हैं ? क्या अपनी उसकी पसन्द को भी आपने जाना है ? वह आपको किस रूप में देखना चाहता है, कमरे का कौन-सा रंग उसे पसन्द है, उसकी साज-सज्जा क्या होनी चाहिये, उसे कौन सी गन्ध, कौन से फूल, आपकी कौन-सी साडी, कौन-सा पहनावा उसे पसन्द है, क्या यह सब आपने मालूम करने की चेष्टा की है ? ···इस सब व्यवहार में धनी-अमीर की हैसियत काम नही करती; मात्र व्यवहार की कुशलता का यह कार्य है। इन छोटी-छोटी बातों की व्यवहृति से पुरुष का अपने घर की ओर, अपनी पत्नी में खिचाव होता है, आकर्षण बढ़ता है।" इतना कह वह चुप हो गई। प्रश्न हुआ—

"बस। क्या इतना ही पर्याप्त है ?"

"नही। ये तो प्रारंभिक बातें हैं जो घर को, गृहस्थ को व्यवस्थित करती हैं। साधारण हैसियत की समझदार पत्नी भी इन मामूली नुक्तों की व्यवहृति से अपने घर को सुखमय बना सकती है। पति-पत्नी के बीच गृहस्थी की समस्याएं यहीं समाप्त नहीं हो जाती।" रतिप्रिया अपने वक्तव्य को आगे बढाने के लिए कुछ सोचने लगी। कुछ क्षण के विराम के बाद उसने कहना प्रारंभ किया, "बहिनो ! मानव सामाजिक प्राणी है। समाज की एक इकाई होने के कारण वह अन्य व्यक्तियों के संपर्क मे आता हैं। स्त्री और पुरुष दोनो उसके संपर्क के विषय अथवा पात्र हो सकते है। घर की स्वामिनी का, पत्नी का, यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने घर और मेहमानों की वह स्वयं आवभगत करें। सामाजिक पुरुष चाहता है कि उसके घर की, उसकी, उसकी पत्नी की प्रशंसा हो। गरीब से गरीब भी अपनी मुस्कान, आसन और पानी से अपने घर आए मेहमानों का स्वागत कर सकता है। वास्तविक आत्मीयता छिपी नही रहती। उसी प्रकार औपचारिक वर्ताव भी, चाहे वह कितना भी प्रदर्शनकारी क्यो न हो, अपनी असलियत प्रकट किये विना नही रह सकता। घर आए हुए मेहमानों के स्वागत मे स्वामिनी का स्वयंरत होना उसकी उनके प्रति सम्मान और हार्दिक संवेदना का द्योतक है। उनके स्वागत में खान-पान की सामग्री उतना महत्व नही रखती जितनी संवेदनशीलता रखती है।

अनेक बार इस सवेदनशीलता के अभाव में भी पति-पत्नी के बीच तनाव बढ जाता है। आप अपनी सहेलियों के घर जाने पर जो सत्कार पाती है उनसे अधिक आपका संवेदनशील व्यवहार होना चाहिए।"

"जैसे ?"

"क्या आप अपने घर आए मेहमानों के बच्चों को प्यार-पुचकार देती हैं ?"

"नही।"

"क्या आपने अपने घर आई स्त्री के वस्त्रों की, उसके जेवरात की, उसके यौवन व सौन्दर्य की, उसकी सज्जा की एकात्मकता की, उसकी वाणी की, यदि मूक हो तो उसकी सौजन्यमयी व शालीन मूकता की तारीफ की है ? बहिनो ! याद रखिये कि अधम व उत्तम व्यवहार के लिये किसी औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। अपने लिये जो व्यवहार आप चाहती हैं वही व्यवहार आप दूसरे को दीजिये। पुरुष अपने शौर्य और नारी अपने सौंदर्य की प्रशंसा से प्रसन्न होती ही है। बार-बार की स्मृति और अभ्यास से यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। यदि कोई पुरुष या स्त्री मात्र इस एक सिद्धान्त में कौशल हासिल कर ले तो उसके सुसंस्कृत व व्यवहार कुशल होने में उसे आगे कोई नहीं रोक सकता। पारस्परिक व्यावहारिकता का यह सुसम्मत महामंत्र है।"

महिलाओं का समूह रतिप्रिया के संबोधन को बड़े ध्यान व दिलचस्पी से सुन रहा था। उसकी बातों के संदर्भ में सब अपने मन, हृदय को टटोलने लगी थीं। ऐसी कोई खास बात नही थी जो उनके लिए नयी हो अथवा बोधगम्य न हो। उसका संबोधन सबके लिये सरल और मान्य था। व्यवहार में यदि कोई बाधा आ सकती थी तो मात्र अपने व्यक्तिगत वहम की। रतिप्रिया ने अपने समक्ष वृन्द को विचार और मनन में मग्न देखा। कुछ क्षणों के अपने मौन को भंग करते हुए वह बोली, "मात्र विचार और मनन से एक गृहस्थ की सफलता व सुरक्षा साध्य नही है। आवश्यक है उसके लिए संयत, सिद्ध व्यवहार। वह भूमिका तो हुई आपके सामाजिक जीवन की संपन्नता की। पर, मात्र इसी से नारी का अपना सुख सहज नहीं हो जाता। जो प्रथम प्रश्न पूछा गया था

उसकी समस्या का हल, उसकी पूर्ति और जगह है।···जानती हो उस जगह को ?"

"नहीं।"

"और यदि मैं कहूं कि आप जानती हैं, सब उससे परिचित है ?"

"नही।"

रतिप्रिया के चेहरे पर उत्तर सुनकर एक हल्की-सी हँसी फैल गई। वह बोली—

"क्या आप अपने शयन-कक्ष से परिचित नही है ?"

"उससे तो परिचित है।"

बहिनो ! यही तो वह स्थली है जो नारी के जीवन को आजीवन मे घटित करती है। यही वह शयन-मन्दिर है जहाँ नारी को उसके सर्वसुख का वरदान मिलता है। ···यही वह क्रीड़ास्थली है जहाँ वह अजेय बनती है। पुरुष से यहाँ पराजित होने के बाद उसका जीवन जीवन नही रह जाता। उसके जीवन का जहाज यही से भटकता है, वर्फानी तूफानी लहरो से डगमगाता हुआ चट्टानो से टकरा कर जीवन-सागर की गहनतम तह मे चूर-चूर होकर डूब जाता है। यही शयनागार वह स्थली है जहाँ प्रेम की बाजी—उसका खेल—काम के शस्त्रों से खेला जाता है।···काम, देव है। सबसे बडा, सबसे अधिक सशक्त देव।···हमारे धर्म के आदि ग्रन्थ मे लिखा है कि आदि पुरुष के मन में सर्वप्रथम इच्छा काम की हुई।···हिरण्यगर्भ सूक्त का हिरण्यगर्भ इसी काम का परिणत अवतार माना गया है। वह पहले अर्द्ध नारीश्वर था। आधा पुरुष, आधा स्त्री। जब पुरुषतत्व और स्त्रीतत्व अलग-अलग हुए तभी उनमें प्रजनन की शक्ति उत्पन्न हुई। यह संदर्भ सिर्फ मैंने इसलिए दिया है कि आप काम को धर्महीन, अधर्म सम्मत न समझो। एक नही, ऋग्वेद, के कथित संदर्भ के बाद भी सैकड़ो संदर्भ वेदो, उपनिषदों, स्मृतियो, व साहित्य मे हमे इस कामदेव की बाबत देखने को मिलते हैं। भारत मे काम संबन्धी जीवन के विषय में इतना अधिक साहित्य है कि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी, वैसा प्रौढ और उन्नत साहित्य पश्चिम में नही था।···हाँ, मैं क्या कह रही थी ?"

"शयन-मन्दिर…।" समूह में से एक ने कहा।

"ठीक है।" दो-एक क्षण के विराम के बाद रतिप्रिया ने अपना वक्तव्य जारी रखते हुए कहा—

"घर का शयन-कक्ष ही वह स्थली है जो पुरुष को सबसे अधिक घर की ओर आकर्षित करती है। चाहे दिन में यह किसी उपयोग में आता हो, रात्रि में यह स्वच्छ और सजा हुआ होना ही चाहिए। दो शय्या वांछनीय हैं। इसकी सज्जा, रंग, रोशनी, चित्र, गन्ध आदि-आदि सब मे काम की प्रेरणा होनी चाहिए। क भी मत भूलिए कि काम की तृप्ति का अभाव पुरुष को भटकने पर मजबूर कर देगा। गरीब, अमीर, ज्ञानी, साधु, संन्यासी सब इस काम की शक्ति के मोहताज हैं। यदि आपको पुरुष के शौर्य से शयन-मन्दिर मे राहत लेनी है तो उसे विनोद के लिए और कुछ पर्याय दीजिए। देखती नही कि अमीर की कोठी मे, राजा के महल में, गरीब की झोंपडी से कम सन्तान उत्पन्न होती है। उसका कारण यही है कि जब गरीब के पास विनोद का, अपने दिल बहलाने का और कोई साधन अथवा पर्याय नहीं होता तो वह केवल विशिष्ट काम से अपने दिल को राहत देता है।"

"काम का पर्याय…?"

"विशिष्ट काम से दूर रखने के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष, चाहे कोई भी हो, किसी विनोदमयी कला का सहारा लें। जीवन मे कला का महत्व इसीलिए, व्यावहारिक रूप में यह है कि वह पुरुष और स्त्री की काम की 'अति' से सुरक्षा करती है। जीवन मे कला का महत्व जीवन का उन्नयन है—उत्सादन है। कलाकार जब भी अपनी कला में व्यस्त अथवा रत हो जाता है, तब उसकी सह-धर्मिणी वह कला हो जाती है। स्त्री पुरुष में और पुरुष स्त्री में, विलास रत रहने की बजाय वे कला मे विलास करने लग जाते हैं। इस प्रकार विशिष्ट काम से, उसकी अति से राहत मिल जाती है। काम की ही तरह कला व्यक्ति को, उसके मन को, मस्तिष्क को, हृदय को, उसकी इच्छा अथवा वासना को, विचार को, भावना को अपनी ओर बाँधे रखती है।…

"बहिनो ! आपको अपने पुरुष की, उसके शौर्य की, उसकी कामुक शक्ति और अभिव्यंजना का अन्दाजा लगाते देर नही लगेगी। जब भी पुरुष की शक्ति आपके लिए अप्रिय हो जाय, आप उसकी असन्तुष्टि का मान करें, तुरंत उसे नई दिशा, उसकी शक्ति को नया घुमाव देने की चेष्टा करें। जो बात पत्नी के लिए सत्य है वही पति के लिए भी सत्य। गृहस्वामी और गृहस्वामिनी जब भी अपने घर मे, गृहस्थ मे, काम का आविर्भाव देखें उन्हें चाहिए कि उसके घातक होने के पहले ही वे उसकी दिशा-परिवर्तन कर दें। बड़े और व्यवस्थित घरो में नियमपूर्वक सुबह शाम सबके लिए पूजा, ध्यान, भजन, कथा इसी लिये आवश्यक कर दिया जाता है। किसी भी रूप मे निरन्तर व्यस्तता, मन और कर्म से कार्यक्रम मे लगे रहना कामदेव को उसकी परिधि मे रखने के लिए सहायक होगा।"

"क्या काम का धर्म से सम्बन्ध है ?"

"भारतीय संस्कृति में तो निश्चयपूर्वक।"

"कैसे ?"

"धर्म क्या है ?"

"पूजा-पाठ, हरि-सुमरन।"

"बस !"

"शास्त्र-पठन, उनका ज्ञान।"

"बस !"

"फिर आप कहिए।"

"भारतीय संस्कृति में एक शुद्ध भारतीय की समस्त दिनचर्या उसका धर्म है। जो जीवन मे व्यवहृत न हो, प्रतिदिन व्यवहार में न आये वह भारतीय का धर्म नहीं। उसके जीवन की दिनचर्या में ही उसका धर्म परिलक्षित है।

"जैसे ?"

"सुबह ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना, नित्य-नैमित्तिक कर्म के बाद व्यायाम अथवा शारीरिक श्रम, स्नान, पूजा, अध्ययन या गोष्ठी, अर्थ-उपार्जन के कार्य, घर की आवश्यकताओं की व्यवस्था, आमोद-प्रमोद, सुबह

शाम नियमित भोजन, शयन और फिर उसके बाद जागरण—यही एक भारतीय की दिनचर्या है। यह दिनचर्या ही उसका धर्म है। प्रत्येक साल, प्रत्येक मौसम, प्रत्येक महीने में विभिन्न त्योहारों की, उनके उत्सवों की भिन्न-भिन्न बहुलता, उनकी सरसता, दैनिक जीवन की एकरसता, एक स्वरता, विरसता, ऊब, उकताहट को दूर करने के लिये काफी है। साधारण भारतीय के लिए उसके जीवन का दिन प्रतिदिन का यह कार्य-क्रम ही उसका धर्म है।

"इस धर्म का अभिप्राय क्या है?"

"स्वर्ग। सुख।"

"और मोक्ष?"

"स्वर्ग और मोक्ष एक नहीं है, बहिन जी! स्वर्ग में मोक्ष नहीं है, वहां सुख है। मात्र सुख। धार्मिक व्यक्ति सुख प्राप्त करता है, स्वर्ग प्राप्त करता है। मोक्ष नहीं।"

"फिर मोक्ष क्या है?"

"वह भौतिक अस्तित्व की वह स्थिति है जो महाभूत अनन्त में लय हो जाती है। मोक्ष हो जाने पर न इच्छा रहती है, न अस्तित्व; न सुख न दुख। मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य सब परमानन्द की, सुख-दुख रहित पूर्णत्व की एक परिस्थिति कल्पित की गई है। उस स्थिति-परिस्थिति में मोक्ष की इच्छा की, निर्वाण की कामना की, कैवल्य की अकांक्षा की भी समाप्ति हो जाती है। जब मानव अपने जीवन मे इस स्थिति को पहुँच जाता है तब सनातनी इसे मोक्ष, बौद्ध निर्वाण और जैन कैवल्य प्राप्ति की सज्ञा देते है। इस कथित स्थिति के अलावा, चाहे स्वर्ग हो चाहे और वैसा ही कुछ और सुख-दुख, जीवन-मरण, आवागमन से इन्सान का पिण्ड नहीं छूटता। ऐसा शास्त्रों का कथन है। जहां सुख है, वहां दुख है, जहां जीवन है, वहां मृत्यु है, जहां स्वर्ग है वहां नरक भी है। स्वर्ग के देवी-देवता इच्छा मुक्त कल्पित नही किये गये। ईर्षा, द्वेष, भय सब उनके जीवन में हैं। राक्षसों से प्रताडित उनका जीवन कल्पित किया गया है। सारे का तात्पर्य इतना ही है कि, जहां द्वन्द्व की परिस्थिति है, चाहे

कितनी ही सुखमय क्यों न हो, वहाँ सुख के साथ दुख, कम—अधिक मात्रा में, पहले पीछे लगा हुआ ही है।"

"आप स्वर्ग को मानती हैं ?" समूह में से एक ने प्रश्न किया। रतिप्रिया बोली, "मैं इसे काल्पनिक अस्तित्व मानती हूँ। धर्म से, धार्मिक जीवन से, धार्मिक दिनचर्या से कल्पित स्वर्ग मिले या न मिले, यह विवादात्मक, विवाद्य हो सकता है, परन्तु इसमे कोई शक नहीं कि धार्मिक दिनचर्या से इसी अपने संसार में, अपने घर में स्वास्थ्यमयी, सुखमयी, शान्तिमयी स्थिति अवश्य स्थापित हो जाती है। इस दृष्टिकोण से धर्म, धार्मिक दिनचर्या चाहे मनीषियोंका, बुद्धिमानों का, एक सामाजिक सिद्धांत ही सही, उससे व्यक्ति और समाजका हित ही होता है।"

रतिप्रिया कुछ क्षण के लिए चुप हो गई। शायद, उसके मस्तिष्क मे विचार आया कि वह अपने मुख्य विषय से भटक गयी है। अपने वक्तव्य के सूत्र की स्मृति में उसने कुछ क्षण लिये। सूत्र को पकडते हुए उसने कहा—

"विशिष्ट काम को साधारण काम मे, बहुत बार चर्चा द्वारा, पठन द्वारा, कलामय चित्र-दर्शन द्वारा, शयन-मन्दिर में परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु, यह सब नारी की अपनी विशिष्ट कला पर आश्रित है। पति के, पुरुष के मन और मस्तिष्क की तरफ, ऐसी परिस्थिति में, सदैव ध्यान रखना चाहिए। अपने मे उसकी दिलचस्पी का खोना अपने को खोना है। बहुत महत्व की बात है जो मैं अब आगे कहती हूँ। पुरुष अपनी शौर्यमयी प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण नारी को, अपनी काम तृप्ति के पात्र अथवा भाजन को, एक शिकार की तरह दबोच कर, कभी-कभी वश में करके अपनी तृप्ति करता है। उसकी इस प्रक्रिया में नारी दन्त, नख क्षतों से प्रायः पीडित भी हो जाती है। परन्तु, पुरुष की उत्तेजना के इन क्षणों में ही वास्तविक रमणी की परीक्षा होती है। यदि सहवास के इन क्षणों में वह पुरुष को विजयी होने का अवसर देती है तो वह स्वतः ही शिथिल होकर अपनी उस प्रेयसी का दास बन जाता है। …बहिनो ! याद रखो कि सर्व-समर्पण देकर ही सर्व-समर्पण प्राप्त किया जा सकता है। नारी का आंशिक समर्पण उसके स्वयं के लिये

पातक है। अंश देकर कोई कहीं पूर्ण प्राप्त नहीं कर सकता। शयन-मन्दिर में, काम-क्रीड़ा के क्षेत्र में तो, कभी नहीं।"

कुछ क्षण अपने विचारों को एकत्रित कर रतिप्रिया ने पुनः कहना शुरू किया—

"आप कहेंगी कि इस पर भी यदि अपने पुरुष पर नियन्त्रण न पाया जाय फिर? ...मेरा कथन है कि, कहीं न कहीं आपने गलती की है। आपने अपने पुरुष को पढ़ा नहीं है। पढ़ा है तो उसकी इच्छाओं से, समस्याओं से सहयोग नहीं किया है। शयन-मन्दिर में पुरुष से दूरी अपने जीवन में पारस्परिक दूरी का आमन्त्रण है। ...अनेक बार तो नारी को स्वयं प्रेरक बनने की आवश्यकता हो जाती है। यह वह स्थिति होती है जब पुरुष का मन, उसकी इच्छाएं और कहीं उलझी हुई हों। शरीर में अनेक काम क्षेत्र हैं..."

"जैसे?"

"जंघा, नितम्ब, वक्ष, ग्रीवा आदि-आदि। क्या कभी अपने इनके स्पर्श की स्वतंत्रता दी है? जब पिता अपनी पुत्री को काम के लिए उसके वर को देता है तो सभी प्रकार के स्पर्श लेने-देने में लज्जा क्या? धर्म-सम्मत विवाह, समाज सम्मत है तो फिर झिझक क्या? ...दाम्पत्य जीवन में तो पति-पत्नी को घर में, घर से बाहर कहीं भी, चाहे जब, जाने की स्वतंत्रता है। एक रमणी को, एक कामिनी को, एक पत्नी को, एक प्रेमिका को अपने-अपने पुरुष के साथ सदैव, नित्यप्रति नई-नवेली दुल्हन जैसा व्यवहार करना आवश्यक है, तभी वह अपने पुरुष को बँधा हुआ अपने पास रख सकती है।"

"और इसके उपरान्त भी दाम्पत्य जीवन में सफलता न मिले...?"

"फिर समस्या को धैर्य और बुद्धिमानी से सुलझाना पड़ेगा। आपने महाकवि कालीदास की शकुन्तला को पढ़ा होगा। यदि नहीं पढ़ा तो आपको पढ़ना चाहिये। उसमें ऋषि कण्व अपने पति के घर प्रथम बार जा रही शकुन्तला को शिक्षा देते हैं, कि पुत्री "बड़ों का सम्मान, दास के साथ सद्-व्यवहार और अपनी सौतों के साथ प्रेम और ... व्यवहार करना।" पुरुष के लिये बहु-विवाह, परस्त्रीगमन,

शराब-पान क
है। मूल कार
नारी उमकी र
कुछ क्षमा, कुछ
झगडने मे स्थि
·· बहिनो । ·
आते है वैसे ही
जीवन मे भी ।
से मुक्त नही है
अस्तित्व को स
जाये तो जीवन
जाते है, समाप्त
काली रात के ब
दर्शन होते है ।
होता है । व्यक्ति
भिन्न नही । उस
इसीलिये जीवन
महान बनता है,
है, मूर्ख से बुद्धि
दिशा मे परि
महत्ता है । इस
चिन्ता आदि म
उज्ज्वल भविष्य
कि सुख-दुख क
म स्वीकार क
गतिशील, परि
'और प
स्वस्थ, सुन्दर
सकता है । म

भी-कभी परिस्थिति वश और कभी कुसंगवश भी हो जाता
ण, विशिष्ट परिस्थिति को समझ कर ऐसे समय में जो
ाक के उपाय करती है, वही अच्छी गृहणी समझी जाती है।
त्याग, ऐसे अवसर पर अनुकूल असर करता है। लड़ने-
त, परिस्थिति बद से बदतर होने की संभावना अधिक है।
कृति में जैसे सर्दी, गर्मी, आँधी, उमस, वर्षा, वसन्त सब
सामाजिक जीवन मे भी उनका आवागमन है। व्यक्ति के
प्रकृति का, प्रकृति के जीवन का कोई अस्तित्व सुख-दुःख
। फिर भी प्रकृति प्रकृति है। जीवन जीवन है। दुख के
ाभाविक समझते हुए यदि जीवन मे उसका सामना किया
कभी टूटता नहीं। अपना समय भोग कर जैसे सब चले
हो जाते हैं, वैसे ही दुःख का भी अन्त है। गहरी घोर
ाद ही आशा भरी सुखमयी उषा किरण के, प्रकाश के,
पतझड़ के बाद ही वसन्त प्रकृति के जीवन में अवतरित
त का जीवन, सामाजिक जीवन भी प्रकृति के जीवन से
र पर भी निरन्तर, सतत परिवर्तन का नियम लागू है।
अपने-आपमें महत्वपूर्ण है। जीवन मे ही व्यक्ति लघु से
गरीब से अमीर बनता है, चरित्रहीन से चरित्रवान होता
मान और अधम से सन्त और साधु बन जाता है। वांछित
र्तन का सुयोग, अवसर मात्र हमारे इस जीवन की ही
ीलिए निराशा, उसकी प्रेरक परिस्थितियाँ, दुख, कष्ट,
ब सुखद परिवर्तन की द्योतक हैं, आशामय जीवन और
य की पूर्व सूचनाएं हैं। इसीलिये हमारे ऋषि कह गये हैं
ो, विजय-पराजय को, मान-अपमान को जीवन में समभाव
ना चाहिए। वे जानते थे कि ये सब जीवन की पटकथा के
वर्तनशील दृश्य हैं।
रिवर्तन ?···व्यक्ति के जीवन में, सामाजिक जीवन में,
परिवर्तन लाने का श्रेय एकमात्र नारी को ही प्राप्त हो
ा, बहिन, दादी, नानी, धाय आदि ही वे मूल शक्तियाँ हैं

जो व्यक्ति को उसके शैशव में, कैशोर्य में, उसके जीवन को निश्चित दिशा देती हैं। यौवन में वही भार पत्नी के कंधों पर आ जाता है। परिस्थितियों से भय खाकर यदि ये ही अपने को अशक्त समझ कर विचलित हो जायेंगी तो समाज, जाति, देश का सौभाग्य ही खतरे में पड़ जायगा।···

"बहुत अच्छा उदाहरण याद आ गया। जब स्वर्ग के देव महिषासुर की ज्यादतियों से, उसके जुल्मों से तंग आ गये, आतंकित होकर निराश हो गये, तब, उन्होंने माँ दुर्गा का आह्वान किया। सबने अपने शस्त्र उसके सुपुर्द कर दिए। *सिंहवाहिनी माँ दुर्गा* ने *महिषासुर* का दमन कर उसका वध किया। यह आख्यान प्रतीकात्मक सही, परन्तु, मूल सत्य से, शक्ति के वास्तविक सिद्धांत से हीन नहीं है। भारतीय पौराणिक युग के ऋषियों की यह कला थी कि उन्होंने कहानियों के सत्य को रूपकों में सुस्थापित कर संसार को, अपने देश को अमर साहित्य दिया। उनके चिन्तन को आज भी कोई चुनौती नही दे सकता। आज के युग मे भी उनकी कला शक्ति अपराजेय है, अनुकरणशील है।··· सिंह पौरुष के शौर्य का प्रतीक है; महिषासुर समस्त कुरीतियों का, दुर्भावनाओं का, उत्थान और सुख में बाधक प्रतिगामी शक्तियों का प्रतीक है। उसके वध से पौराणिक कथाकार इस सत्य को उजागर करने की चेष्टा करता है कि नारी का रमणी रूप ही वह रूप है जो पुरुष सिंह को अपने वाहन के रूप में नियंत्रित करने उसमें उत्पन्न उसकी समस्त हीनताओं को सदैव के लिए दूर करने मे, समाप्त करने मे समर्थ है। इसीलिए दुर्गा रमणी रूप मे सिंह पर बैठी है। वह काम-रूपा है। उसके हाथों के शस्त्र उसके काम शरों की, कुसुम शरों की, अभिव्यंजना है जिनसे कैसी भी दुष्प्रवृत्तियाँ उन्मूलित हुए बिना नहीं रह सकती।···इसी तरह सागर मन्थन के बाद अमृत घटक प्राप्त होने पर मोहिनी अवतार की कथा है जिसमें राक्षसों को अमृत-पान से वंचित रखा गया था। देव बुद्धिमान थे और राक्षस बली। एक प्रगतिशील शक्तियों के प्रतीक है और दूसरे प्रतिगामी शक्तियों के मोहिनी रूप, *कामायिनी—काम की पुत्री—कामिनी* का प्रतीक है। अपने रूप और

यौवन की मोहिनी शक्ति से उसने देवताओं की ईच्छा को पूरित किया व उनके श्रम को सफल बनाया। श्वेत कमल पर बैठी हुई, श्वेत स्वच्छ वस्त्रों से आवृत्त, चन्द्रवदनी महाश्वेता देवी सरस्वती भी इसी कामरूपा कला की अधिष्ठात्री है जिसके सौंदर्य और कला के आगे, जिसकी सुप्रभा के समक्ष त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जन्म जीवन और मृत्यु के प्रतीक, प्रार्थना में नतमस्तक थे।···मेरे सारे कथन का तात्पर्य यह है कि अपनी काम-शक्ति से अपने पुरुषों को नियन्त्रित करने का अधिकार प्रत्येक नारी को है। यह अधिकार धर्म-सम्मत और स्वाभाविक है। इसकी अव्यवहृति, समय पर इसकी व्यवहृति में संकोच, नारी का कुप्रवृत्तियों को आमन्त्रण व उनके आगे अपना आत्म-समर्पण है।"

क्षण भर रुककर बिना किसी प्रश्न की प्रतीक्षा किए रतिप्रिया ने कहा—

"क्या आपने पुरुष को, अपने पुरुष को समझने की चेष्टा की है? ···क्या आपने कभी अपने मोहिनी रूप का उपयोग किया है? ···क्या सर्व समर्पित होकर सर्व समर्पण प्राप्त किया है···क्या देवी सरस्वती की तरह सज कर अपने पुरुष के काम को ललित कलाओं की ओर प्रेरित किया है?··· क्या उसके दोषों को क्षमा कर उससे आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा की है?···और यदि नहीं तो, बहिनो! एक पुरुष के परस्त्रीगामी बनने की अनेक घटनाओं में उसकी स्त्री का भी बहुत अंशों में, अपरोक्ष रूप से ही सही, हाथ होता है।···क्या घटाओं से घिरे चाँद को देखने की सबकी इच्छा नहीं होती है? क्या छविपूर्ण सुन्दर वेश लुभावना नहीं प्रतीत होता?···क्या कंचुकी की बधनी कुछ खुली रह जाने से वक्ष की, उसके उरोजों की शोभा, उनकी कमनीयता, कम हो जाती है? ···क्या झीने वस्त्रों में से झलकता नारी का सौन्दर्य पुरुष के लिए प्रेरणास्पद नहीं होता? और यदि यह सब नहीं होता तो पुरुष कलाकार ललित कलाओं के पुरुष पुजारी स्वयं अपनी कविताओं में, अपने गीतों में, अपने साहित्य में, अपने संगीत में, अपने स्थापत्य में, अपनी मूर्तियों में इस महासत्य का [illegible] नहीं करते [illegible] इच्छा, उसकी हार्दिक अभिलाषा.

विभिन्न माध्यमों मे बखूबी जानी जा सकती हैं।"

इतना कह कर रतिप्रिया चुप हो गई। अपने वक्तव्य की समाप्ति का संकेत उसने अपने दोनो हाथ जोडकर उपस्थित समूह को दे दिया। आसीन समूह में हलचल प्रारभ हो गई। कुछ महिलाओं ने रतिप्रिया को नजदीक आकर घेर लिया। कुछ उसके स्वागत मे व्यस्त हो गईं। क्षणों में चाय, खान-पान आदि का प्रबन्ध हो गया। संपन्न परिवारों का यह समाज था। रतिप्रिया मोटर में बैठी तो उसने देखा कि अनेक उपहार उसमे उसके साथ थे। पारस्परिक घनिष्ट अभिवादन के बाद उसने इस समाज से इस मोटर के पास ही छुट्टी ली।

रतिप्रिया का जीवन-क्रम पिछले कुछ वर्षों से अबाध गति से चल रहा था। संभ्रान्त गृहस्थों में जो शिक्षण का पेशा उसने अख्तियार किया था उससे उसे काफी अच्छी आमदनी हो जाया करती थी। अजय का आवास निवास भी बीच-बीच के कुछ समय को छोड़ कर इसी के घर मे था। कुछ दिन मेहमान रहने के बाद उसने शनैः-शनैः घर की कुछ जिम्मेवारियाँ भी अपने ऊपर ले ली थी। रतिप्रिया अपनी ओर से उसे कुछ भी लाने के लिए नही कहती थी। कुछ उपहारों से शुरू करके उसने घर की आवश्यक सामग्री की खरीद मे हाथ बटाना शुरू कर दिया था। अजय की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। परन्तु, वह फिज़ूल-खर्ची नही था। सादा जीवन, सादा रहन-सहन ही उसे प्रिय था। रतिप्रिया की जीवनी से, उसके स्वभाव से, उसकी आदत मेल खाती थी। साहित्य चर्चा व कला शास्त्र के विनोद से दोनों एक-दूसरे के काफी नजदीक आ गए थे। एक घर में, एक साथ रहते हुए भी दोनों व्यक्तिगत रूप से अपना-अपना एकाकी जीवन ही जीते थे।

रतिप्रिया के घर मे अजय के अलावा उसकी तथाकथित माँ व उसका कुत्ता जॉनी और थे। दिन मे अनेक बार अनेक पुरुष गोष्ठी के बहाने आ जाया करते थे। परन्तु उनके आवागमन से रतिप्रिया की दिनचर्या मे कोई बाधा नही आती थी। घर में उपस्थित रहती तो वह अवश्य आगन्तुकों के विचार-विमर्श में भाग लेती और उनकी उचित आवभगत भी करती। उसका अपना कार्यक्रम निश्चित था। वक्त बेवक्त, असमय में किसी के आने पर वह क्षणिक औपचारिकता बरतने के बाद अपने कार्य में व्यस्त हो जाती।

सुबह चार-पांच बजे के बीच उठना उसकी आदत हो गई थी। अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों से निवट कर जिनमें स्नान, पूजा, अध्ययन शामिल थे, वह नियमित रूप से सरस्वती के मन्दिर दर्शन करने जाती और वहाँ से आने के बाद ही उसका चाय-नाश्ता प्रारंभ होता।

उसके छोटे से घर में रसोई, स्नानघर, सामान घर आदि के अलावा चार कमरे और थे। दो नीचे और दो ऊपर की मंजिल के इन कमरों में एक ऊपर का और एक नीचे का कमरा अपेक्षाकृत अन्य कमरों से बड़ा था। अजय और अन्य आगन्तुकों के लिए ऊपर का कमरा ही सज्जित किया हुआ था। इसी कमरे में वह अजय और अन्य आगुन्तकों के साथ बैठकर बातचीत व विचार-विमर्श किया करती थी। अन्य कमरे उसके व्यक्तिगत उपयोग के लिये थे। नीचे के एक छोटे कमरे मे अवश्य उसकी माँ का आवास व नियन्त्रण था। उसके साथ के बड़े कमरे में उसने अपने संगीत, अध्ययन व पूजा की व्यवस्था कर रखी थी। यह कमरा भी सुसज्जित व पूर्ण व्यवस्थित था। बहुप्रयोजनशील होते हुए भी वस्तुओं का अवांछित एकत्रीकरण इसमें नजर नहीं आता था। संगीत के साज, अध्ययन की पुस्तकें, पूजा के उपकरण सब अलग-अलग अपनी-अपनी सीमाओं मे व्यवस्थित थे। उसके अपने आकार के दो निर्मल दर्पण दीवारों में आमने-सामने सजे थे। नटराज व सरस्वती की दो मूर्तियाँ कमरे के कोनों में रखी दो उच्च पीठों पर विराजमान थी। इन मूर्तियों के आगे ही पीठ पर दीप, पुष्प, गन्ध की व्यवस्था की हुई थी। नटराज प्रकृति के निरन्तर नाट्य की मुद्रा मे शोभायमान थे। इस प्रतीकात्मक कला-मूर्ति में प्रकृति की निरन्तर प्रगतिशीलता का परिचय उसके गत्यात्मक संचलन व चेष्टाओं से रूपायित किया गया था। जैसे सारा विश्व एक गति में, एक लय में, एक अनन्त पथ की ओर अग्रसर हो रहा है। सरस्वती की शान्त, भव्य, सौन्दर्यमयी प्रतिमा वीणा, पुस्तक, मालिका अपने हाथों में धारण किये अपने आराधकों को एक हाथ से अभय का वरदान देती हुई श्वेत कमल पर आसीन-स्थापित थी। इस मूर्ति में स्थापित रूपकों से यह प्रेरणा दी गई थी कि मानव, एक सामाजिक प्राणी, ध्यान, अध्ययन और पूजा से प्रेरित संगीत से सर्व स्वच्छ होकर,

था। न अजय, न उसकी माँ। उसके लिए यह आश्चर्य की बात थी। यह तो वह समय था जब कोई-न-कोई घर के अन्दर होना ही चाहिये था। खैर! कुछ क्षण के लिए वह घर के बाहरी दरवाजे के आगे ही खड़ी हो गई। उसने देखा कि पड़ोस और आस-पास के बच्चे व कुछ स्त्रियां इधर-उधर छोटे-छोटे समूहों में खड़े उसी की ओर देख रहे हैं। उत्सुक मौन की छाया उसने अपने वातावरण में देखी। उसे आभास हुआ कि कुछ-न-कुछ गड़बड़ है। थोड़ी ही देर मे कुछ बच्चों को उसने अपने पास आने का सकेत किया। पास आने पर उसने पूछा—

"क्या बात है?"

"आपके घर पुलिस आई थी।"

"क्यों?"

"किसी को लाई थी, सब को ले गई।"

"मगर क्यों?"

"क्या मालूम?"

"फिर भी कुछ तो सुना होगा?"

"चोरी का मामला है।"

इतने मे पडोस की काम करने वाली एक नौकरानी ने आकर उसे इत्तला दी कि उसके घर में चोरी हो गई है। उसके घर में काम करने वाली परिचारिका का बेटा ही चोरी में पकड़ा गया है।...माँ, बेटे, बाबू सबको पुलिस ले गई है।

"चाहे जिस औरत को घर में रखने का यही नतीजा होता है, बहिन जी! एक दिन मे सब साफ कर दिया। मालकिन की तरह घर में वर्षों रखा और नतीजा यह दिया।...पहले भी कई बार यह ऐसा करा चुकी है। जानने वाले तो उसे रखते नही। मीठी बातें बनाकर परदेशियों के यहाँ अपना अड्डा बना लेती है। सस्ती समझकर लोग रख लेते हैं। किसको क्या पड़ी है कि किसी की शिकायत करे।...वर्ना, हम तो सब जानते थे।...मुझे ही देखो, वर्षों से इसी मोहल्ले के चार-पाँच घरों में काम करती हूँ। मजाल है एक सूई भी इधर से उधर हो जाय; घर से बाहर चली जाय। पर, कौन कहे?...बहुतों को तो ठोकर खाकर भी

कार, अभयदान पाने व देने की स्थिति में हो सकता है। बाहर और अन्दर की, शरीर और हृदय की निष्कलंक स्वच्छता, शुभ्रता, धवलिमा ही व्यक्ति को, उसके रूप को, आलोकित करती है, यही इस मूर्ति का प्रतिपादित विषय था। दीवारों पर उनकी रिक्तता को दूर करने के लिए उचित स्थानों पर कुछ प्राकृतिक दृश्यों की तस्वीरें शोभायमान थीं। इनकी सज्जा से ऐसा मालूम होता था जैसे विशाल अनन्त में स्थान-स्थान पर सजीव सौन्दर्य का प्रस्फुटन हो रहा है। निर्देशित मूर्तियों के मध्य दीवार के सहारे, बीचों-बीच, दूध के समान सफेद एक चद्दर एक गद्दे पर बिछी हुई थी। चार-पाँच बड़े मसनद, तकिये इस पर सजे थे। चार-पाँच व्यक्ति इस पर आराम से बैठ सकते थे। इस कक्ष मे प्रवेश करते ही एक सुरम्य वातावरण का आभास होता था। सुरम्यता के साथ वातावरण में एक सुवासित अनुभूति होती थी जिससे अन्दाजा लगाया जा सकता था कि यहाँ इस स्थल मे, इस कक्ष में, पूजा के रूप मे दीप गन्ध का समर्पण नियम पूर्वक प्रतिदिन होता है। इस कक्ष का प्रवेश द्वार खोलते ही इसकी सुवासिता प्रवेशक के समक्ष स्वत: स्पष्ट हो जाती थी। प्रवेश द्वार बन्द रहने पर भी कमरे मे अन्धेरा नही रहता था; कारण, इसमें वायु व प्रकाश के आवागमन के लिए उचित प्रबंध था। इसमें रखे संवातक हवा और रोशनी दोनों के आवागमन के लिए काम देते थे। इस अपने इस कक्ष का रख-रखाव स्वय रतिप्रिया ही करती थी। बिना आज्ञा इसमें चाहे जिस व्यक्ति का प्रवेश निषेध था। इसी कमरे की दो दीवारो में दो अलमारियाँ स्थापित की हुई थी जिनमे रतिप्रिया अपने कीमती सामान, रुपये, पैसे, कपड़े, जेवर आदि आवश्यकता के अनुसार रखती थी। उपहार की अनेक दुर्लभ वस्तुओं की भी ये ही अलमारियाँ संग्रहागार थीं। समस्त घर मे ताले चाबियों की कोई सख्त व्यवस्था नही थी फिर भी इन अलमारियों को प्राय. बन्द करके रखा जाता था। इनकी चाबियों को रतिप्रिया ने कभी अपने पास नही रखा। वहीं दीवार की एक खूंटी पर ये सुविधा के लिए लटका दी जाती थीं। आवश्यकता होने पर वह अथवा उसकी परिचारिका उसके आदेश के अनुसार उसका उपयोग करते थे।

अपने शिक्षण कार्य से आज जब वह घर लौटी तो घर में कोई नही

था। न अजय, न उसकी माँ। उसके लिए यह आश्चर्य की बात थी। यह तो वह समय था जब कोई-न-कोई घर के अन्दर होना ही चाहिये था। खैर! कुछ क्षण के लिए वह घर के बाहरी दरवाजे के आगे ही खड़ी हो गई। उसने देखा कि पड़ोस और आस-पास के बच्चे व कुछ स्त्रियां इधर-उधर छोटे-छोटे समूहों में खड़े उसी की ओर देख रहे हैं। उत्सुक मौन की छाया उसने अपने वातावरण में देखी। उसे आभास हुआ कि कुछ-न-कुछ गड़बड़ है। थोड़ी ही देर मे कुछ बच्चों को उसने अपने पास आने का संकेत किया। पास आने पर उसने पूछा—

"क्या बात है?"

"आपके घर पुलिस आई थी।"

"क्यों?"

"किसी को लाई थी, सब को ले गई।"

"मगर क्यों?"

"क्या मालूम?"

"फिर भी कुछ तो सुना होगा?"

"चोरी का मामला है।"

इतने में पड़ोस की काम करने वाली एक नौकरानी ने आकर उसे इत्तला दी कि उसके घर में चोरी हो गई है। उसके घर में काम करने वाली परिचारिका का बेटा ही चोरी में पकडा गया है।···माँ, बेटे, बाबू सबको पुलिस ले गई है।

"चाहे जिस औरत को घर मे रखने का यही नतीजा होता है, बहिन जी! एक दिन में सब साफ कर दिया। मालकिन की तरह घर में वर्षों रखा और नतीजा यह दिया।···पहले भी कई बार यह ऐसा करा चुकी है। जानने वाले तो उसे रखते नही। मीठी बातें बनाकर परदेशियों के यहाँ अपना अड्डा बना लेती है। सस्ती समझकर लोग रख लेते हैं। किसको क्या पड़ी है कि किसी की शिकायत करे।···वर्ना, हम तो सब जानते थे।···मुझे ही देखो, वर्षों से इसी मोहल्ले के चार-पाँच घरों में काम करती हूँ। मजाल है एक सूई भी इधर से उधर हो जाय; घर से बाहर चली जाय। पर, कौन कहे?···बहुतो को तो ठोकर खाकर भी

होश नही आता। फिर जब सब कुछ चला जाता है सिर पर हाथ देकर रोते है।"

रतिप्रिया इस औरत की बात सुनकर सब परिस्थिति समझ गई। और भी उसने बहुत कुछ कहा, मगर रतिप्रिया ने उसके सारे कथन को न तो सुना और न उस पर विचार ही किया। कुछ क्षण के लिए उसका मस्तिष्क जरूर चोरी की घटना के संदर्भ मे उधेडबुन मे लगा रहा, मगर, शीघ्र ही वह आश्वस्त-सी ताला खोलकर घर के अन्दर चली गयी। घर मे कही भी वस्तुओं का बिखराव उसे नजर नही आया। ऊपर गई तो वहाँ भी सब सलामत था। जैसी व्यवस्था प्रतिदिन थी वैसी ही आज थी। सुनी घटना की प्रगति की प्रतीक्षा में वह इस कमरे के गद्दे पर तकिये का सहारा लेकर बैठ गई। उसका मन और मस्तिष्क दोनों कहते थे कि शीघ्र ही कोई-न-कोई अवश्य सन्देश लेकर आयेगा।

और वही हुआ। कुछ ही देर मे उसकी माँ और अजय बाबू दोनों ही घर लौट आये। आते ही वह दोनो ऊपर गये। उन्होने देखा कि रतिप्रिया पूर्ण आश्वस्त तकिये के सहारे बैठी है। उसके चेहरे पर वही स्मिति और होंठो पर मधुर मुस्कान थी। दोनो आगन्तुकों के चेहरे उदास और गंभीर थे। माँ का कुछ अधिक। उसकी आँखों में बार-बार आँसू उमड़ आते थे। वह कुछ भी कहने मे असमर्थ थी। पास आकर जमीन पर वह आहत-सी बैठ गई। वाणी उसकी बन्द थी। शब्द उसके मुँह से निकल नही रहे थे। अजय भी चुपचाप आकर बैठ गया था। उसने भी घटना का सिलसिला आते ही छेड़ा नही। क्षण दो क्षण मे ही उसकी माँ ने रतिप्रिया के पाँव पकड लिए और सिसकियाँ भर-भर वह रोने लगी। रतिप्रिया को उसकी आँखों मे, उसके चेहरे पर, उसकी निपट-घोर दीनता के दर्शन हुए। उसने महसूस किया कि उसके पाँवों पर माँ के हाथों की पकड प्रतिक्षण अधिक मजबूत हुई जा रही है। अजय यह सब देखता रहा। आखिर रतिप्रिया ने ही मौन भंग किया। अपनी माँ के हाथों को अपने पाँवो से दूर करते हुए उसने पूछा—

"आखिर बात क्या है?"

मेरा मुँह उसने काला कर दिया, बेटी!...अभी दो-तीन दिन से

ही वह यहाँ आया हुआ था।···पुलिस ने उसे पकड लिया है।···न जाने अब उसके साथ क्या करेगी।···इतने दिन बाहर था; सोचती थी कि कही मजदूरी लग गया होगा।···न जाने उसने यह कहाँ से सीख लिया।···सामान बेचते हुए को पुलिस ने पकड़ा है।"

"क्या सामान ?"

"अपने यहीं का था। कहते है, सब पर तुम्हारा नाम लिखा हुआ है।"

रतिप्रिया ने कुछ क्षण सोचा। उसे अन्दाजा हो गया कि क्या सामान जा सकता है। वे सब नीचे गये। रतिप्रिया ने नीचे के कमरे मे जाकर देखा तो उसकी व्यवस्था मे उसे कही विखराव नजर नहीं आया। खूंटी से चाबी उतारकर अलमारी खोली तो उपहार मे आये कुछ चांदी के वर्तन गायब थे। जिस डिबिया मे उसकी एक अँगूठी और लॉकेट के साथ एक स्वर्ण जजीर थी वह भी उसे नजर नही आई।

"कितने का गया है, बेटी ?"

"मेरा खरीदा हुआ तो था नही, माँ।"

"मैं सब भर दूँगी।···मजदूरी करके सब उतार दूगी।···तू उसे छुड़ा देना, बेटी !"

"तू क्यों चिन्ता करती है, माँ ? तुमने तो उसे दिया नही। वह कोई गैर तो नही है। जरूरत हो गई होगी।···अपना समझ कर ले गया। और तो किसी का नही ले गया। तुम चिन्ता न करो।···कहाँ है वह ?"

"पुलिस के कब्जे मे ?"

"और माल !"

"वह भी।"

"क्या करेंगे उसका ?"

"बयान लिए होगे। यहाँ लाने को कहते थे।" वाणी अजय की थी।

रतिप्रिया पुनः अलमारी बन्द करके ऊपर के कमरे की ओर चल दी। घटना की प्रतिक्रिया का कोई विशेष प्रभाव उस पर नजर नही आता था। ऊपर पहुँच कर उसने माँ को चाय बनाने के लिये कहा। चाय आई उसके पहले ही पुलिस वाले एक सोलह-सतरह वर्ष के किशोर को लेकर

उसके घर पर आये। उसने सब को ऊपर के कमरे मे आने का आग्रह किया। बैठे तब तक चाय भी आ गई। सक्षम अधिकारी ने रतिप्रिया से अपने घर का अन्य सामान सँभालने व बयान देने के लिए कहा। वह बोली—

"जनाब! आप नाहक परेशान हो रहे हैं। पहले चाय नोश फरमाइये। आपने भी कह दिया। मैं बहुत कुछ सुन चुकी हूँ। पर, मुझे तो सब मालूम है; पहले से ही सब मालूम था।" और यह कहते हुए उसने सब के लिये चाय की प्यालियाँ पूरित कर दी। आगन्तुकों व अजय को देने के बाद उसने किशोर की ओर भी प्याली भर कर बढा दी जिसे उसने पुलिस अधिकारी का सकेत पाकर पकड़ लिया। माँ दूर दरवाजे के बाहर खडी देखती-सुनती रही। चायपान के समापन के बाद पुलिस अधिकारी ने पुनः कहा—

"हाँ, तो आप अपना अन्य सामान देख लीजिये जिससे रपट लिखी जा सके।"

"मगर किसलिए?"

"इसने चोरी जो की है।"

"कौन कहता है?"

"यह स्वयं। यह आपके माल को एक दुकान पर बेच रहा था। सब पर आपका नाम भी लिखा है। क्या यह सब सामान आपका नही है?"

"निश्चय ही मेरा है।"

"फिर?"

"यह सब तो इसे मैंने दिया था। ···क्यों, बोलता क्यों नहीं है?" किशोर चुप रहा। पुलिस का आतंक उस पर छाया हुआ था।

"क्यों बे? क्या बात थी? क्या कहा था तूने?" प्रश्न पुलिस अधिकारी का था। रतिप्रिया बीच मे ही बोल पड़ी—

"अफसर साहब! इसने झूठ बोला होगा। पर, मैं झूठ नही बोलती। सामान मेरा है, मैंने ही इसे दिया था। यह इसे बेच सकता था। यदि किसी के घर में नकद न हो तो फिजूल का सामान ही तो पहले बेचा जाता है।"

"एक मासूम बच्चे की मार्फत ? बात समझ मे नही आती ।"

"समझ में आनी चाहिये, साहब ! इससे दाम ही तो कम आते । समाज के कथित इज्जतदारो का सामान इसी तरह कम कीमत पर बिकता है । अपनी इज्जत के कारण वे अपना सामान कभी बेचने नहीं जाते । दूसरो की मार्फत बाहर-भीतर ये सौदे तै होते हैं । पाँच सौ से कम मे इन्हें न बेचने का मैंने इसे कह दिया था ।"

"परन्तु, इसने यह कहा क्यो नही ?"

"पुलिस का रोब आप कम समझते हैं ?···वह तो सब पर हावी होता है ।···फिर, यह तो एक बच्चा है । देखते नही, कि, मैं भी सारी बात आश्वस्त होकर नहीं कह सकती । अजय बाबू जैसे विद्वान और धीर-गंभीर आदमी भी चुप हैं । आकस्मिक और अनहोनी परिस्थितियों में बड़ो-बडों की हालत खराब हो जाती है । आतंक में किसी की बुद्धि ठिकाने पर नही रहती । इसकी हालत तो और भी अधिक खराब है ।"

"आप इसलिए तो ऐसा नही कहती कि रपट लिखाने से आपकी मुसीबत बढ जायेगी ? थाना, कोर्ट, कचहरी में चक्कर काटने की आशंका से आप···"

"ऐसी कोई बात नही है, जनाब !"

"आपने हमारा सारा मुकद्दमा ही ढेर कर दिया ।"

"यह कोई मुकद्दमा था ही नही, जनाब ! आप इसे और [illegible] को यहीं छोड़ दीजिये । बच्चे की थोडी-सी मूर्खता के कारण [illegible] हुआ उसके लिए हम सब क्षमाप्रार्थी हैं ।···एक कप चाय और [illegible] ?"

"नही । धन्यवाद ।"—इतना कह पुलिस [illegible] उठ खड़ा हुआ । उसके साथी भी उठ खड़े हुए । [illegible] कोई कागज नही बने थे, इसलिये पुलिस को तफतीश [illegible] आवश्यकता नहीं थी । किशोर और माल को वहीं [illegible] । उनके चले जाने के बाद रतिप्रिया ने घर का [illegible] में बन्द कर लेने को अपनी माँ को आदेश दिया । [illegible] को दरवाजे [illegible] छोड वापस ऊपर चली गई [illegible] वह अजय से कह [illegible] हुआ ।"

"पर आपने झूठ बोला।"

"हाँ।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि वह झूठ सत्य से बेहतर था।"

"यह कैसे ?"

"इसलिये कि अपने झूठ से मैंने अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि नहीं करनी चाही। जिस झूठ से दूसरे का उपकार हो, किसी अन्य को हानि न हो, किसी अपने स्वार्थ के लिए न हो, वह झूठ भी सत्य से अच्छा होता है। ···अजय बाबू ! झूठ सत्य भी समाज में प्रकृति के द्वन्द्व रोशनी और अन्धेरे की तरह दो आवश्यक स्थितियाँ हैं।···न अँधेरा खराब है, न प्रकाश अच्छा। वही बात झूठ और सत्य के सम्बन्ध में भी सत्य है। जिस सत्य से तबाही मचे, किसी के जीवन का विनाश हो, जो परस्पर में दुर्भावनाएँ फैलाए वह सत्य झूठ से भी बदतर है। लकीर के फकीर की मैं मोहताज नहीं हूँ।"

"इस सिद्धांत को कहाँ तक अपनाया जा सकता है ?"

"जहाँ तक इसकी आवश्यकता हो ?"

"क्या नैतिकता और धर्म इसे स्वीकार करेंगे ?"

"छोड़ो इस बात को, अजय बाबू ! धर्म और नैतिकता के अप्राकृतिक व्यवहार से मानव कितना गिरा है, कितना और कैसे अपने सुख और प्रगति से वंचित रखा गया है, इसका संसार का इतिहास साक्षी है। दुनिया के सब द्वन्द्व समाज के सारे द्वन्द्व सब सापेक्षिक हैं। सब एक-दूसरे के पूरक हैं। परन्तु अपने-आप में सब नष्टप्रायः सारे द्वन्द्व जीवन के क्रम को, चाहे वह प्राकृतिक हो, चाहे मानव प्रेरित, आगे बढ़ाने के लिए हैं।···आकाश आँधी, बिजली, तूफान, वर्षा के आगमन से नष्ट नहीं होता, बल्कि, और अधिक साफ होता है। नदी का पानी भयंकर बाढ़ की गन्दगी के बाद निर्मल हो जाता है। युद्ध की विभीषिका भी एक दिन शान्ति को जन्म देती है। सामाजिक जीवन के द्वन्द्वों को भी उनकी प्राकृतिक सापेक्षिकता में समझ कर जो व्यक्ति व्यवहार करता है उसके वास्तविक व्यक्तित्व के लिए वे घातक नहीं।···विष खराब है, तेज धारदार चाकू का प्रयोग

खराब है। परन्तु, ये दोनो चिकित्सक और शल्यकार के हाथ में वरदायक हैं। माँ अपने रोते हुए बच्चे को कहानी घड़ कर फुसलाती है, उसके वांछित वादे पूरे करने को कह कर उसे चुप करती है। धर्मशास्त्रियों ने, दुनिया के मनीषियों ने, किस्से-कहानियों से शास्त्र निर्मित कर दिए हैं; क्या यह सब झूठ है?...आपकी दृष्टि मे मैंने झूठ बोला, पुलिस की दृष्टि में भी मैंने झूठ बोला; परन्तु, अपनी दृष्टि में मैंने झूठ नहीं बोला। इस किशोर बालक का जीवन मुझे श्रेय था।...इस मेरी माँ की खुशी मुझे श्रेय थी। मेरा हृदय, मेरा तन, मेरा मस्तिष्क उस झूठ से किंचिन्मात्र भी आज विकृत नहीं हुए हैं।"

इतना कहकर रतिप्रिया चुप हो गई। माँ और बच्चा पुनः रतिप्रिया के पाँवों से चिपट गये। कुछ क्षणों के विश्राम के बाद किशोर के मुँह से शब्द निकले, "आयन्दा कभी नहीं करूँगा।"

"अच्छी बात है, पाँव तो छोड़ो।"

"मुझे माफ करो दीदी।"

"माफ कर दिया तो।"

उसने फिर कहा, "आयन्दा ऐसा काम कभी नहीं करूँगा।"

"बहुत अच्छी बात है। तुम्हारे थोड़े-से अपराध से देखो, तुम्हारी माँ को कितना कष्ट और दुख हुआ है।...तुम्हीं तो उसके जीवन के सहारे हो।...तुम्हारे कारण उसे दुख हो उससे अधिक बुरी बात और कोई नहीं हो सकती है।"

"अब तुम इस घर में कभी पाँव नहीं रखोगे।" माँ ने चेतावनी देते हुए कहा।—"मगर" रतिप्रिया बोली, "क्यों नहीं? यह घर इसका है; इसकी माँ का है, बहिन का है। और कहाँ जायगा?...और देख, भैया! आयन्दा किसी की कोई चीज न उठाना। अपना वही होता है जो अपने परिश्रम से प्राप्त किया जाय।...जीवन मे गलतियाँ प्रत्येक से होती हैं। उनसे मायूस नही होना चाहिये। बड़े वे ही बनते हैं जो अपनी गलतियो से अच्छा बनने की कोशिश करते हैं। और अच्छा वही है जो दूसरों के काम आए। किसी पर भार न बने। समझे?"

"इसे सिर पर न चढ़ाओ, बेटी!"

"यह सिर पर चढ़ाना नहीं है, माँ ! अभी यह बच्चा है। शायद, तुमसे और अन्य सम्बन्धियों से इसे आज तक झिडकी ही मिली है। प्यार, मधुर वाणी क्या है, शायद, इसने आज तक उनका अनुभव ही नहीं किया होगा। और देख, मुन्ना ! तू इन चीजों को बेचने क्यों गया था ? इनमे से कौन-सी चीज तुम्हे सबसे अधिक पसन्द है ?…बोलो !…बोलते ही वह इसी क्षण तेरी हो जायगी। और देख ; आज से तू यही रहेगा। मेरे पास। कुछ पढ़ेगा-लिखेगा। घर के काम मे माँ की मदद करेगा। किताबें, कपड़े, पैसे—सबका मैं इन्तजाम करूँगी…कुछ-न-कुछ तो कमी, अभाव, सबको होते हैं, भैया ! उनसे हार कर प्रलोभन मे नहीं आना चाहिए। अच्छा वही है जो अच्छा सोचे, अच्छा करे।" और यह कहते हुए उसने अपना हाथ उसके खुले सिर पर फेरना शुरू कर दिया। जुर्म का, पाप का, अपराध का वातावरण ही उसके वक्तव्य से अब तक समाप्त हो चुका था। बच्चे ने पुलिस द्वारा लाए हुए सामान में से रतिप्रिया का एक फोटो उठा लिया। साथ ही वह रतिप्रिया के चेहरे की ओर देखने लगा। वह बोली—

"आज से यह तुम्हारा है। और कुछ ?"

"बस !" साथ ही बालक के चेहरे पर प्रसन्नता की एक मुस्कराहट प्रस्फुटित हो गई जो सबके लिए आनन्ददायक थी।

"अरी घुंघरुओं को अभी रहने दो। पांवों को ठीक करो। 'ता' 'थेई', 'तत्'—इन तीन अक्षरों को ही सर्वप्रथम सीखना है।...फिर वही बात! दाहिने पाँव को पूरा जमीन पर पटको तब 'ता' होगा। तुम्हारी सहेली शोभा ठीक कर रही है। बाएँ पाँव को पूरा पटकने से 'थेई' होगा।... पैर की एडी से हल्का आघात करने पर 'तत्' की उत्पत्ति मानी गई है।...जब इतना सीख लोगी तब आगे बताऊँगी कि क्या करना है। समझी?"

"बहिन जी! यह तो मुझे हो गया। देखिये। ता, थेई, तत्, ता, थेई, तत्।" दूसरी ने कहा। साथ ही पाँव से क्रिया की।

"ठीक है।...देखो, नृत्य हमेशा स्वर वाद्यों व ताल वाद्यों की सहायता से मनोहारी बनता है या बनाया जाता है। उनकी ध्वनि में मिल कर 'ता' में एक अजीब ओज आ जाता है। तब यही 'ता' 'ध' में सुनाई देगा। यह स्थिर ध्वनि वाला अक्षर है। अधिक आकर्षक, अधिक प्रभावशाली।"

"नृत्य में और अक्षर नहीं होते, बहिन जी?"

"होते हैं पर वे सब इन्हीं तीन अक्षरों के प्रसार हैं।...'ता' ताण्डव-स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है; यह पुरुषत्व प्रधान है। वीर, उत्साह, श्रृंगार रस के प्रदर्शन में इसकी प्रधानता हम देखेंगे।"

"और 'थेई'!"

"लास्य नृत्य में इसकी प्रधानता हमें देखने को मिलेगी।...'ता' जैसे शिव स्वरूप है वैसे ही 'थेई' पार्वती स्वरूप है। एक नृत्य में पुरुषत्व का, दूसरा नारीत्व का प्रतिनिधित्व करता है।...पुरुष और प्रकृति; पुरुष और नारी।—'तत्' पुरुष और प्रकृति की लीला का द्योतक है।"

"यह कैसे, बहिन जी ?"

"एक बात तुम्हें हमेशा याद रखनी चाहिए। सब ध्यान से सुनो। ...भारत एक धर्मप्राण देश है। इसकी कोई कला, चाहे वह संगीत से सम्बन्धित हो, चाहे साहित्य से, मूर्ति से हो चाहे स्थापत्य से, लौकिक हो, चाहे अलौकिक सब धर्म से सम्बद्ध हैं। भारतीयों के—प्राचीन भारतीयों के सारे धर्म उनकी दिनचर्या मे प्रविष्ट कर दिये गये थे जिससे कोई भी व्यक्ति उनके चिन्तन के लाभों से वंचित न रहे। ऋषियों ने, मनीषियों ने, इसीलिये एक भारतीय के जीवन को, उस जीवन की दिनचर्या को, धर्म का रूप दिया। जीवन को महत्त्व देते हुए, उसकी सार्थकता को सर्व महत्त्व देते हुए ही उन्होने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्यों की उत्पत्ति की।—इन चारों उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ही उन्होंने एक भारतीय के जीवन को चार अवस्थाओ मे बांटा।—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—ये ही वे अवस्थाएँ थी जिन्हें वे आश्रम के नाम से सबोधित करते थे। एक सौ वर्ष के पूर्ण जीवन को उन्होंने चार बराबर भागो मे बांट दिया था, सब धार्मिक; सब धर्म के लिए। इस तरह एक भारतीय का सारा जीवन ही धर्म है, धर्ममय है। जीवन से बाहर उनका धर्म नही है। ...इसीलिए भारतीय कलाएँ भी धर्ममय हैं, जीवनमय है। नृत्य मे शिव, पार्वती, गणेश भारतीय पुरुष, नारी और शिशु के प्रतीक हैं।...धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब जीवन के लिए साधन हैं; अपने-आप में साध्य नही। इनमे से किसी को भी एक-मात्र साध्य मान लेने से जीवन अजीवन हो जायगा।...धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के ये वर्णित उद्देश्य एक भारतीय संपूर्ण व संयत जीवन की सक्षिप्त परिभाषा है।...आवश्यकता से अधिक न धर्म, न अर्थ, न काम, न मोक्ष। सब एक महत्त्वपूर्ण जीवन के लिए। सब उद्देश्यों में इतना सामंजस्य कि किसी की अति के कारण जीवन अजीवन न बने।"

"जीवन अजीवन न बने। ...क्या मतलब ?"

"हाँ, श्रीमती प्रभा !...जीवन अजीवन न बने इसीलिए, मेरे खयाल से मनीषियों ने सर्वत्र अति की वर्जना की है।...ये ललित कलाएँ—नृत्य, गान, वादन, चित्र, मूर्ति, कविता, साहित्य, स्थापत्य आदि-आदि

सब उद्देश्यों की अति के प्रति रोक है। जीवन को, उसकी रसलीला को सुरक्षित रखने के लिए ही इनका निर्माण व विकास हुआ है। सारी ललित कलाएँ एक उत्साहित जीवन के लिए प्रक्रियाएँ हैं, प्रेरणाएँ हैं। इनके माध्यम से हम अतीत में जी सकते हैं, आगत का सुख भोग सकते है; अनागत मे विचरण कर सकते हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनो एक कलाकार की कला के एक साथ अवलम्ब हो सकते है। गत, आगत और अनागत जीवन से भिन्न हम अमर जीवन की कल्पना नही कर सकते। इसीलिये कला अमर है; कलाकार अमर है, क्योंकि उसमे तीनों कालो के उपयोग की अपनी कला के माध्यम से शक्ति है। जीवन के सुख-दुख, उसका उत्थान-पतन, उसकी आकाक्षाएँ, आशाएँ, प्रेरणाएँ सब एक कलाकार की कला के विषय हो सकते है। जब उसकी कला तीनो कालों मे जीवित रहने का उसे अहसास करा देती है वह कलाकार अमर हो जाता है। ऐसी अनुभूति मे उसके लिए जीवन ही जीवन रह जाता है; मृत्यु का अहसास उसे नही होता। इस तरह जीवन का, मात्र जीवन का वह सन्देहवाहक होता है। इससे अधिक, इससे भिन्न अमरता को मैं नही समझ सकी हूँ, श्रीमती जी!"

"कुछ क्षणों के लिए नृत्यशाला में शाति छा गई। उसे भग करते हुए नृत्यार्थी एक तरुणी ने पूछा—

"आप कह रही थीं कि 'ता' पुरुषत्व का और 'थेई' नारीत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं और 'तत्' शिशु का। यह सब कैसे? नृत्य मे यह सब कैसे व्यवहृत होगा, बहिन जी?"

"नृत्य क्या है?"

"एक कला है।"

"और कला क्या है?"

"आप ही बताइये।"

"जीवन की अनुकृति!···और आप पूछेंगी कि जीवन क्या है?"

"हाँ।"

"संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह जीवन है। प्रकृति में पशुओं के, पौधो के, पक्षियो के, स्त्री-पुरुषों के, बालकों के जो व्यापार

व्यवहृत होते है वे सब जीवन हैं। आकाश, पाताल, पृथ्वी पर की समस्त हरकतें जीवन है। सूर्य, चन्द्र, तारे, समुद्र, तूफान की गतिशीलता जीवन से भिन्न नही। कली का खिलना, फूल बनना, गन्ध प्रसारित करना सब उसके जीवन के अग हैं। उसी प्रकार शिशु की चचलता, पुरुष का पौरुष, उसका बल, साहस, नारी की रमणीयता, उसकी करुणा, उसका स्नेह, प्यार आदि-आदि सब जीवन-व्यापार की अनुभूत घटनाऐं है। जीवन का प्रकृति के संपूर्ण जीवन का अग होने के नाते मानव को इतिहास से अपने गत का ज्ञान है, आगत से सम्बद्ध होने के कारण यह वर्तमान से परिचित है; मन, मस्तिष्क और हृदय का धनी होने के कारण अनागत के लिए उसके स्वप्न हैं, आशाएँ है, आकांक्षाएँ है, उद्देश्य हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति का समस्त जीवन अपनी सम्पूर्णता मे कला का विषय है। जो कला जितनी अधिक सूक्ष्म होगी उतना ही कम उसका भौतिक आधार होगा। जीवन की घटना, विशेषकर, उसके क्रम का ज्ञान कराना, उसकी अनुभूति देना ही हर ललित कला का उद्देश्य है। इसलिए जो कलाकार जितना अधिक जीवन का पारदर्शी होगा उतना ही अधिक उच्च स्तर वह अपनी कला में प्राप्त करेगा। उसके लिए आत्मपरक व वस्तुपरक दोनों होना आवश्यक है। वस्तु अथवा विषयपरकता से जहाँ उसे वास्तविकता का, यथार्थ का ज्ञान होगा वही आत्मपरकता मे अमूर्त इच्छाओ, भावों व विचारो की गहराइयों को वह जान सकेगा। एक कलाकार के लिए आत्म-निरीक्षण, आत्म-विश्लेषण, अन्तर्दर्शन उतना ही जरूरी है जितना बाह्य ज्ञान। जो ज्ञान की सीमा, स्तर वह प्राप्त करेगा उतनी ही, उसी के अनुरूप उसकी कला परिष्कृत होगी। कला प्रदर्शन का विषय है, बहिन जी! घटना का, चाहे वह मानसिक हो चाहे भौतिक, समुचित सप्रेषण ही कलाकार का ध्येय होता है। ज्ञान के अभाव में समुचित सप्रेषण का आधार ही नहीं बनता। समुचित सम्प्रेषण उस ज्ञान की व्यवहृति है जो एक कलाकार अपनी शाला में, अपने अभ्यास-कक्ष में प्रदर्शन के लिए प्राप्त करता है। इस संदर्भ में 'ता', 'थेई', 'तत्' के महत्त्व को जानने के लिए मानव-जीवन के सभी पहलुओं से, पुरुष, नारी और शिशु के सभी व्यापारो से, उनके

पारस्परिक सम्बन्धों से, एक नृत्यकार को—परिचित होना होगा। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना पुरुष के शौर्य, नारी की रमणीयता, शिशु की चचलता आदि-आदि का शुद्ध और समुचित संप्रेषण करने में वह कभी समर्थ नही होगा।...नृत्य के ये अक्षर वास्तव में मानव की अवस्थाओं के, उनकी परिस्थितियों के, उनके स्वभाव के, उनकी प्राकृतिक प्रेरणाओं के प्रतीक हैं। नृत्य मे जहाँ जिस भाव की अभिव्यक्ति करनी होगी उसी के अनुरूप अनुकूल अक्षरों की व्यवहृति अधिक करनी होगी। और प्रकृति, प्राकृतिक जीवन जहाँ भी वह है, एक लयबद्ध सृजन है, कला भी एक लयबद्ध सृजन होगा।" इतना कहने के पश्चात् रतिप्रिया चुप हो गई। कुछ क्षण के लिए कक्ष में मौन छा गया। रतिप्रिया ने अपने शिक्षणार्थियों के समक्ष अपने विचार इतनी सरलता से और सुगम भाषा मे रखे कि उनके बोधगम्य होने में किसीको कोई कठिनता महसूस नही हुई। उसके शिक्षणार्थियों में सभी प्रकार की महिलाएँ व तरुणियाँ थी। किसी कला के आधारभूत सिद्धान्तों की यदि सहज व्याख्या की जाय तो उस कला को समझने व रसास्वादन करने की क्षमता का विकास सही रूप में हो सकता है, इस तथ्य से रतिप्रिया सुपरिचित थी। इस प्रकार का सहज शिक्षण कलार्थी और कलाप्रेमी मे स्वाभाविक तौर से उस कला के मूल्यांकन की सामर्थ्य उत्पन्न करता है। व्यक्ति की बुद्धि के विशेष स्तर पर पहुँचने के बाद ही कला मे अभिरुचि व कलात्मक जीवन मे प्रविष्टि का योग सिद्ध होता है। मात्र ज्ञान, मात्र समझ कलात्मक जीवन की व्यवहृति व उसके प्रदर्शन के लिए पर्याप्त नही होते। जहाँ तक कला के ज्ञान और उसके मूल्यांकन की सामर्थ्य का प्रश्न है एक कलाविद्, एक कलाप्रेमी, स्वय प्रदर्शनकर्त्ता कलाकार से अधिक सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पहुँच रख सकता है, परन्तु उसके लिए प्रदर्शन द्वारा वह संप्रेषण सभव नही होता जो एक कलाकार के जीवन का अंग है। कला द्वारा संप्रेषण की सफलता अभ्यास द्वारा ही संभव है।"

रतिप्रिया द्वारा प्रवर्तित मौन को भंग करते हुए एक रमणी ने प्रश्न किया, "बहिन जी! क्या 'ता', 'थेई', 'तत्' के अलावा अक्षर नृत्य के बोलों में प्रयुक्त नही होते?"

"अवश्य आते हैं, परन्तु वे सब इन्ही अक्षरो के सहयोगी बनकर आते है। स्वर, ताल, भावो को एकप्राण बनाने की कलात्मक योजना, मात्र नृत्य मे ही प्रलक्षित है। 'सा, रे, ग, म, प, ध, नी सा'···। सा से नी तक सात स्वरों की लहरो जैसे गान और तार वाद्यों का आधार है उसी प्रकार अपनी नागरी भाषा के क वर्ग, त वर्ग, ट वग, प वर्ग के कुछ अक्षर ताल वाद्यो के बोलों के आधार हैं।···प्रकृति मे गति है; वह गति समय और काल से बाधित है। यही उसकी लय है। यदि यह नही होती तो सूर्य, तारे, ग्रह, पृथ्वी, चन्द्र कभी के परस्पर मे टकरा कर नष्ट हो गए होते। प्रतिवर्ष, क्रमवद्ध ऋतुओं का आवागमन होता ही नही। प्रतिवर्ष प्रकृति सुन्दरी नया शृंगार करती ही नही। लयबद्ध गति से ही पल-पल का परिवर्तन सम्भव हो सका है। प्रकृति जगत मे सर्वत्र अपनी वाणी है, अपने स्वर हैं। पशु-पक्षियो मे बल्कि कीडे-कीटाणुओ तक में अपनी-अपनी वाणी की मुखरता है। पेड-पौधे, घास तक पवन के प्रवाह से प्रभावित होकर अपनी-अपनी स्वर रचना करते हैं। सागर गर्जन करता है, बादल गर्जते हैं, बिजली कड़कती है। कला के आचार्यों ने इन सबकी भाषा और गति को अपने वाद्यो मे उनकी ध्वनियो व गति के स्वरूपो मे सादृश्यता के आधार पर रूपायित कर दिया है। विभिन्न तालों व स्वरो मे स्थापित प्राकृतिक गति व स्वरों के ये रूपक—ये बोल—सहज भाव से प्रकृति सुन्दरी की अनन्त लीला का प्रतिनिधित्व करने मे समर्थ हैं। मानव द्वारा विरचित प्रत्येक कला का सर्वोच्च लक्ष्य सारे संसार को, बल्कि सारे विश्व को एक रूप मे देखना व समझना है। यही अनुभूति मानव का मोक्ष है। प्रकृति के अमर जीवन के साथ मानव की, एक कलाकार की सहकारिता, एकात्मता—कला का परम लक्ष्य है। व्यक्ति अमर न सही, परन्तु जीवन अमर है। जीवन की अमर धारा मे प्रविष्टि, उसके साथ एकरूपता, एकात्मता, उसका सहवास एक कलाकार को सार्वभौम जीवन का स्वरूप प्रदान करता है।—क्योकि प्रकृति के जीवन मे सर्वत्र, सर्वकाल में मेल है, एकरूपता है इसीलिए कला मे भी स्वर, लय, भाव से एकरूपता, मेल अनिवार्य है। कलाकार जब स्वयं अपनी कला का रचनाकार बन जाता है, उसे सद्‌बुद्धि देने लगता है,

उसे सफलतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुंचाने मे समर्थ हो जाता है, उसका अस्तित्व, उसकी स्थिति एक सृष्टिकर्ता की बन जाती है। दुनिया का कोई अस्तित्व, कोई हस्ती, इससे अधिक नही बन सकती; न उससे बडी शक्ति की कल्पना ही की जा सकती है।"

"क्या कला कला के लिए है?"

"प्रथमत. कला मानव के लिए है, मानव कला के लिए नही है। जिस कला से मानव के चरम उद्देश्य की पूर्ति नही होती, जिस कला से कलाकार परम आनन्द की प्राप्ति नही कर सकता वह कला कला ही नही है। जिस कला के माध्यम से रोटी चलती है वह व्यापार है, रोटी-रोजी का साधन मात्र है। पर उसी के माध्यम से जब व्यक्ति, कलाकार अपने व्यक्तित्व को उभारता है, परिष्कृत करके एक महान लक्ष्य तक अपने को पहुंचाता है, दूसरों को उस लक्ष्य की प्रेरणा देता है, तभी वह एक सच्चे कलाकार की श्रेणी मे आता है। नृत्य मे भी मात्र 'ता, थेई, तत्', और उनके विस्तार को पाँवों में ले आने से इस कला की सिद्धि प्राप्त नही होती। उसके लिए आवश्यक है कि कलाकार उनके महत्त्व को जाने। प्रयास से, साधना से उस परम लय, उस परम स्वर, उस परम सृजन की ओर अग्रसर हो।"

रतिप्रिया अपने इतने वक्तव्य के बाद पुनः चुप हो गई। कुछ ही क्षणों के विराम के बाद उपस्थिति मे से ही प्रश्न हुआ—

"क्या घुंघरुओं से ता, थेई, तत् के स्वर निकलते है?"

"नही।"

"फिर नृत्य के समय इन्हे पाँवों मे क्यों बाँधा जाता है?"

"रंजन के लिए। सारी कृति को रसपूर्ण, आनन्ददायक बनाने के लिए प्रकृति मे पवन-प्रवाहन से उसके वेग के अनुसार पेड, पौधे, पत्तियो से एक स्वर निकलता है जिसे हम स, छ, सिन्, छिन आदि ध्वनियों में महसूस करते हैं अथवा सुनते है। सभ्यता के साथ मानव ने धातु का आविष्कार किया। उसके फलस्वरूप पीतल और भरत अस्तित्व में आये। स्वर्ण, चाँदी, पीतल, भरत आदि का उपयोग शुरू हुआ। प्रथमतः श्रृंगार में और बाद मे कला में। पैंजनी, पायल के साथ घुंघरू अस्तित्व

आया। जब शृंगार व कला की माँग बढ़ी तब घुंघरू भी व्यवहृत होने लगे। इसके स्वर ने कलाकारों का ध्यान आकर्पित किया। प्रथमत: लोक-कला मे इसका उपयोग होने लगा। छछि, छम, छछि, छूम, छूम, नन आदि लोक-कला में इसके बोल अथवा अक्षर बन गए। संगीतशास्त्रियों ने लोक-नृत्य के इन अक्षरो को, स्वरो को ताल और स्वर वाद्यो से अपनी कला में संयोजित किया। नागरी भाषा के 'च' वर्ग से छ और झ शब्द लेकर उन्होंने लोक नृत्यकारों के लिए इनसे नृत्य के बोल बना दिए। सूक्ष्म और बृहद ध्वनियों के लिए घुंघरुओ के निर्माण, आकार-प्रकार में उन्होने परिवर्तन किये। इस उत्पत्ति के लिए पीतल और भरत के विभिन्न आकार-प्रकार के घुंघरुओं का प्रयोग होने लगा। कलाकार के लयबद्ध नियंत्रित पदाघात से अब इनसे विभिन्न रसो की उत्पत्ति की जाती है। स्वर और ताल-वाद्यों का सहयोग पाकर घुंघरू के स्वर कलाकार की कुशलता के अनुरूप अब सब रसो, सब भावो की उत्पत्ति करने में समर्थ है।"

रतिप्रिया अभी क्षण भर के लिए चुप हुई थी कि एक महिला ने प्रश्न किया, "और ये मुद्राएँ ?"

"अवयवो की सांकेतिक भाषा का नाम ही तो मुद्रा है। कुछ संकेत निश्चित बन गए। निश्चित मुद्राएँ बन गयी। कुछ रूपको को निश्चित रूप और अर्थ दे दिया गया है। भावों का संप्रेषण तो सदैव कलाकार की स्वयं की क्षमता पर आश्रित है। जीवन और जीवनी का संपूर्ण ज्ञान ही सूक्ष्म भावो, विचारों और इच्छाओं की ओर कलाकार को अग्रसर करेगा। एकात्मता और अभ्यास से संप्रेषण की सिद्धि प्राप्त होगी।"

"जैसे ?" एक ने पूछा।

"बड़ा मुश्किल प्रश्न है।"

"फिर समझ मे कैसे आयेगा, बहिन जी ?"

"ठीक तो है।" दूसरी ने कहा।

"तो आप उदाहरण चाहती हो ?"

"हाँ। ···पर शब्दो मे नहीं।"

"फिर ?"

"नृत्य मे।"

"ओह। अब समझी।···खैर कोई बात नहीं। घुंघरुओं की वह जोड़ी देना।" और इतना कह कर रतिप्रिया कुछ सोचने लगी। उसने दोनों पावों में घुंघरू बांधे। खुली साड़ी के छोरों को कमर में बांधा। एक शिक्षार्थी युवती को नगमा शुरू करने के लिए कहा। एक दूसरी को तबले पर तीन ताल का ठेका बांधने के लिए संकेत किया। स्वयं ताली बजाकर एक से सोलह तक की गिनती की और ताल की गति को ताल देकर निश्चित किया। फिर कुछ क्षण शान्त खड़ी होकर उसने कहना शुरू किया :

"*मान लीजिए, यह वृन्दावन है। राधा कृष्ण की तलाश मे है।* दो एक सखियां उसके साथ हैं। चारों ओर घने कुंज हैं। छोटी-छोटी सकीर्ण वीथिकाएं कहीं-कहीं अनिश्चित पथो का आभास देती हैं। उसका ख्याल है *कि कृष्ण यहीं कहीं किसी कुंज की ओर होंगे। अब देखिये—*

और इतना कहकर रतिप्रिया एक ध्यानस्थ विचार की मुद्रा मे खड़ी हो गई। अनामिका इस समय उसके अधर के नीचे लगी थी। कुछ घुंघरुओं *की हल्की झकृति हुई। उसने अपनी सखि को संकेत से पास* बुलाया। संकेत से ही पूछा, कृष्ण कहाँ हैं? संकेत से ही उसने वंशी और मुकुट की मुद्रा बना दी। सखि का भाव भी उसने दोनो हाथ हिला कर व बाद मे उन्हें *अपने सर पर रख कर दर्शाया। उत्तर था, कृष्ण* का पता नहीं। कुछ अन्तराल से उसकी मुख-मुद्राओं में परिवर्तन हुआ। शायद, दूर से आते हुए वंशी के स्वर उसके कानो मे पड़ गये थे। चिन्ता की मुद्रा *समाप्त हुई। अब उसकी दृष्टि दूर एक कुंज की ओर जा लगी। वंशी का* स्वर परिचित था। किसी को खोजने की मुद्रा में उसने अपनी दृष्टि और सर इधर-उधर घुमाया। आंखों के ऊपर अब हथेली का ललाट के सहारे पर्दा था। कुछ निश्चिति के बाद उसने एक कुंज की ओर अपने पांव बढाये। धीरे-धीरे हल्के पांव वह बढ़ी।···अब मन्दगति उसके पावों मे थी।···कभी-कभी चलते-चलते वह रुक जाती अथवा जल्दी अग्रसर हो जाती। दृष्टि कुंज पर थी। उसकी गति में चपलता व तीव्रता सहसा आ गयी। शायद, कृष्ण का पीताम्बर, उसकी झांकी के दर्शन उसे हो गये

थे। एकाएक मुंह प्रसन्नता की मुद्राओं से प्रहसित हो उठा। गति मे एकरूपता आ गयी। अब वह कल्पित कुंज के पास पहुंच गई।—वृक्षों की टहनियों को अपने रास्ते और मुंह से अलग किया। पर कृष्ण ? इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई पर वे दिखाई नही दिए। आश्वस्त हो, आहट की प्रतीक्षा करने लगी। अभी और बढ़ने के लिए अनिश्चित थी कि कृष्ण ने पीछे से आकर उसकी आखें बन्द कर दी। ...परिचित स्पर्श था। आंखो पर से हाथ हटाते ही क्षणएक तृप्ति की मुद्रा का उसके चेहरे पर आभास दिखाई दिया। परन्तु तत्क्षण रूठने के भाव चेहरे पर आ गये। कृष्ण के संपर्क से अपने को दूर करते हुए वह एक ओर अलग खड़ी हो गई। अब दृष्टि कृष्ण पर न होकर शून्य में एक कुंज की ओर थी। ज्योंही अब कृष्ण उसकी ओर अग्रसर होते वह दूर हट जाती। —फिर कृष्ण का अनुनय, विनय, क्षमा-याचना। अन्त में बाहु-प्रलंबन, मिलन, चुम्बन, समर्पण।

इतना नाट्य करने के बाद रतिप्रिया ने कहा—

"यह राधा का नृत्य था। मुद्राओं से तो मात्र भाव-प्रदर्शन किया गया था। कलाकार जितना ही अधिक अनुभवशील होगा उतनी ही उसकी भाव-प्रदर्शन की क्षमता अधिक होगी। रही बात नृत्य के अक्षरो की, उमके शब्दो की। लास्य नृत्य होने के कारण इसमें 'थेई' की प्रधानता थी। 'तत्' का भी उपयोग किया गया था, मगर, कम। सिर्फ वही जहाँ त्वरित गति की आवश्यकता थी। 'ता' भी था। परन्तु वही जहाँ अग्रसर होने के लिए आश्रय की आवश्यकता थी।...नारी को बढ़ने के लिए, जीवन में अग्रसर होने के लिए पुरुष की, उसके शौर्य की आवश्यकता होती है। वैसे ही जैसे एक लता को वृक्ष की। वह उसका स्थापन-स्थान है। 'तत्' बालक की चंचलता का द्योतक है। इसीलिए आगे-पीछे इसका 'थेई' के साथ उपयोग किया गया था। गति में नये भाव का स्फुरण, विस्फोट 'तोड़े' अथवा टुकड़े से किया गया था। उसका संचार 'परन' में दृश्य था। उसकी निश्चिति 'तिहाई' में प्रलक्षित थी। संक्षेप में इसी मूल सिद्धांत को ध्यान में रख कर अभ्यास करना चाहिए। जहाँ स्वर, ताल और नृत्य के बोलों में सामंजस्य होगा, एकरूपता होगी, एक भाव

होगा वहीं विशिष्ट रस की उत्पत्ति होगी।—रस ही विशिष्ट आनन्द है। कलाकार जब अपनी कला में रस उत्पन्न करता है वह कर्तार है, बहिनो ! उसे ईश्वर की तरह अपनी सृष्टि उत्पन्न करने का रस प्राप्त होता है। वही उसकी काम-तृप्ति है।"

रतिप्रिया इतना वक्तव्य देने के बाद चुप हो गई। उसने अपने पांवों की जोड़ी को उतारना शुरू किया। उपस्थित महिलाओं ने एक भाव-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। कुछ क्षणो के बाद एक प्रश्न के साथ इस कक्ष की शान्ति भंग हुई। प्रश्न था—"सृजन मे कलाकार को जो सुख मिलता है, क्या प्रदर्शन में भी वह सुख प्राप्त करता है ?"

"निश्चय ही, श्रीमती जी ! सृजन का सुख उसका अपना सुख है, एक कर्ता का सुख है। परन्तु, प्रदर्शन का सुख एक दाता का सुख है। जब दर्शक को अपना सुख वह बांटता है, देता है, तब उसके सुख की महत्ता और भी अधिक बढ जाती है। वास्तविक प्रशंसा, सच्ची दाद एक कलाकार और दर्शक दोनो के लिए पारस्परिक सुख के आदान-प्रदान का सुखमय सगम है। इसीलिए भारतीय कला कभी एक भीड़ में प्रदर्शित नही की जाती। उसके प्रदर्शन के लिए एक सदन की, एक कक्ष की आवश्यकता होती है जिससे आमने-सामने बैठ कर कलाकार की आकांक्षाओं, विचारो, भावों का स्तर आंका जा सके। कलामय प्रदर्शनों मे गुणीजनों की, कला-मर्मज्ञों की उपस्थिति उतनी ही आवश्यक व महत्त्वपूर्ण है जितनी स्वयं कलाकार की। इसके अभाव में अपात्रों में कलादान होगा जिससे न कलाकार की और न दर्शकों को ही सुख की प्राप्ति होगी।...कला का सुख किसी काम सुख से; रति-सुख से—कम नही। कलाकार और दर्शक के बीच इच्छाओं, विचारों, भावों, आदर्शों की सुखमय सरिता का संपर्क तभी स्थापित होगा जब दोनों ही देने और ग्रहण करने मे समर्थ होगे। भारतीय ऋषियों ने विशिष्ट काम-सुख की परमानन्द से तुलना की है। वह भी प्राप्त होता है जब दोनों लेने-देने, देने-लेने, दान-ग्रहण, आदान-प्रदान, दान-प्रतिदान की परिस्थिति मे एक-दूसरे के प्रति संपूर्ण समर्पण के माध्यम से पहुंच जाते हैं।...क्योंकि कलाकार, उसकी कला, एक ही समय में एक ही स्थान पर अनेकों का रंजन करने मे, उन्हें उत्साहित

करने मे, समर्थ हो सकती है। इसलिए उसकी स्थिति एक व्यक्ति विशेष की न होकर एक विशिष्ट सर्जक के प्रतीक की हो जाती है। प्रकृति के सर्वांगीण सौंदर्य के सर्जक की जैसे हम प्रशंसा किए विना नहीं रह सकते उसी प्रकार सर्वसौन्दर्यमयी कला के प्रति आकृष्ट व अनुग्रहित हुए विना भी हम नही रह सकते। इसीलिए एक सच्चे कलाकार का स्थान संसार मे सर्वोच्च है। सब देकर भी वह सर्व-पूर्ण, सर्व-सुखी होने की क्षमता रखता है।"

"क्या नृत्य से भी जीवन के चारो उद्देश्यो की प्राप्ति हो सकती है ?"

"क्यो नही ?"

"फिर कलाकार अभावग्रस्त क्यों है ?"

"अपनी कला के कारण नही। अभाव व्यक्तिगत आदतों से उसमे उत्पन्न होता है। फिर कला की भी 'अति' अच्छी नही कही जा सकती। जब स्वर, ताल, बोल सब एक समन्वय की सीमा मे बँधे हैं तब कलाकार का जीवन भी उद्देश्यो के समन्वय की सीमा मे बँधा रहना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष किसी उद्देश्य की जीवन मे 'अति' अच्छी नहीं। क्या अधिक खाना अच्छा है ? क्या अधिक आराम अच्छा है ? क्या अधिक व्यायाम, श्रम, अच्छा है ? जीवन के लिए समन्वित ये सब अच्छे है।— अति की सर्वत्र वर्जना की गई है। भगवान् बुद्ध ने अति तप किया, अति तपस्या की, अति उपवास रखे परन्तु अन्त मे किस नतीजे पर पहुँचे ?··· इसी पर कि 'अति' किसी की भी अच्छी नही। तभी उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया।···बहिन जी ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन मे, जीवन के लिए, जीवन के साधन है। साध्य जीवन है, मात्र जीवन। साधनो के लिए साध्य को नष्ट नही किया जा सकता।···जीवन महत्त्वपूर्ण है, सर्व अस्तित्व का सार है। जीवन मे ही व्यक्ति बुरे से अच्छा, गरीब से धनवान्, दु:खी से सुखी, अज्ञानी से ज्ञानी बन सकता है। किसी कला का उद्देश्य भी उससे भिन्न नहीं हो सकता।"

रतिप्रिया का चुप होना था कि कक्ष मे पुनः शान्ति का साम्राज्य छा गया। वक्तव्य मे कही हुई बात साधारण होते हुए भी समझदारो के लिए साधारण न थी। उसके लिए मनन अपेक्षित था। कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद एक शिक्षार्थिनी ने प्रश्न किया—

"क्या नृत्य कला के विषय में कलाकारों मे मतभेद नही है ?"

"जहाँ तक कला के आधार और उद्देश्य का प्रश्न है वे सब एकमत हैं। भेद आता है उनकी प्रक्रियाओं में। भारत मे अभी तीन घराने हैं जो इस कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। जयपुर, लखनऊ और बनारस। जयपुर ताल को महत्त्व देता है। लखनऊ रमणीयता का हामी है। बनारस छन्द, कवित्त, बोलों के माधुर्य का समर्थक है। परन्तु, सबकी आधार-शिला एक है ; उद्देश्य एक है। व्यक्ति का उन्नयन।···मानव का उत्सादन। अपने घरानो की विशेषता का वे कथित माध्यमों से प्रदर्शन करते हैं। नृत्य की विशेष शाखा के वे विशेषज्ञ हैं। ···आज अब इतना ही···।"

रतिप्रिया के आखिरी शब्द आज के पाठ की समाप्ति के संकेत थे। संकेत के साथ ही कक्ष में जो शान्ति थी, वह हलचल में परिवर्तित हो गयी। क्षणों मे सबने उसे चारों ओर से घेर लिया। कुछ ही देर में चाय का सामान आ गया। प्रथम प्याली रतिप्रिया को दी गई। फिर यथेच्छा सब चाय-पान करने लगी। —रतिप्रिया के कक्ष से बाहर होते ही कक्ष शून्य हो गया।

रतिप्रिया का जीवन-क्रम अपनी गति से चलता गया। अजय बाबू और रतिप्रिया की तथाकथित मां के साथ उसका लड़का मोहन भी उसके घर के सदस्य थे। अनेक बार कुछ व्यक्ति अजय के साथ भी उसके यहां आने लगे थे। त्योहारों के दिन इस घर मे पहले की अपेक्षा अब अधिक चहल-पहल हो जाया करती थी। आगन्तुक व्यक्ति एक छोटे-से समाज का रूप ले लेते थे। इस समाज में अनेक विषयों पर अनेक वार्ताए चर्चित होती थी। रतिप्रिया की अनुपस्थिति मे अजय बाबू आगन्तुकों की आव-भगत कर लेते थे। उनकी सहायता मे मोहन और उसकी मा प्रायः घर मे उपलब्ध ही रहते थे। रतिप्रिया के अपने कार्यक्रम मे घर में किसी के आने-जाने से कोई व्यवधान नही आता था। उसका शिक्षण व्यवसाय नियमपूर्वक अबाध गति से चल रहा था। आर्थिक रूप से रतिप्रिया अजय पर किसी भी तरह आश्रित नही थी फिर भी अजय बाबू ने घर का खर्च अपने जिम्मे ही प्रायः ओट-सा लिया था। आवश्यकता की कोई भी चीज प्रायः उसकी नजर मे पहले से ही रहती थी और इसलिए अभाव के पूर्व ही वे उसकी पूर्ति कर देते थे। इतना सब होते हुए भी रतिप्रिया आतिथ्य-कर्तृ और अजय इस घर मे अतिथि थे।

बहुत शीघ्र विभिन्न आगन्तुकों के संपर्क व संसर्ग से मोहन बहुत कुछ औपचारिकता की बातें सीख चुका था। आगन्तुक का सत्कार और उसके लिए योग्य शब्द अब उसके लिए कोई नई बात नही रह गये थे। रतिप्रिया की प्रेरणा से उसने प्रतिदिन कुछ पढ़ना-लिखना प्रारंभ कर दिया था। अपने रिक्त समय मे रतिप्रिया स्वयं उसकी प्रगति का जायजा प्रायः ले लिया करती थी और जो भी निर्देश वह उसे देती उसका वह ईमानदारी व परिश्रम से पालन करता। रतिप्रिया से कोई बात उसके खाली समय

में पूछने में उसे शंका नहीं रह गई थी। उससे अपनत्व पाकर मोहन में उसके प्रति एक आस्था उत्पन्न हो गई थी जिससे उसके बढ़ते हुए व्यक्तित्व में एक निश्चयात्मक प्रवृत्ति का विकास होना प्रारम्भ हो गया था। विगत के जीवन-संपर्क उसने समाप्त कर दिए थे और अब एक ऐसी दिशा पकड़ ली थी जिसमें उसे प्रकाश और आशाभरी जिंदगी के आसार दृष्टि-गोचर होने लगे थे।

रतिप्रिया मन्दिर से घर लौटी तो उसने अनेक व्यक्तियों की ध्वनियों को ऊपर से नीचे आते हुए सुना। उसने देखा कि मोहन और उसकी मां उनके लिए चाय बनाने की व्यवस्था में व्यस्त हैं। सहायता के लिए पूछने पर वे उसे इन्कार कर देते। व्यवस्था की समुचितता को जानकर वह ऊपर चली गई। उपस्थिति मे पहुंची तो सबके चेहरे खिल उठे। करीब दस-बारह की उपस्थिति थी जिनमें एक-दो को छोड़कर सब परिचित थे। सबने रतिप्रिया का अभिवादन किया। बहुतों ने खड़े होकर। क्षण एक के लिए वह द्वार पर ही हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। उसके चेहरे की प्रसन्नता और स्मिति से उनके अभिवादन का उत्तर स्पष्ट था। परिचितों से कुशल-मंगल के बाद उसने अपरिचितों की ओर दृष्टि डाली। प्रश्न हुआ "आपकी तारीफ ?"

"जितनी भी की जाय उतनी कम है।" एक परिचित ने कहा। रतिप्रिया चुप रही। अपरिचित व्यक्तियों में से एक बोला—"मुझे दिनेश कहते हैं। दिल्ली में अध्यापन का काम करता हूं।"

"प्रोफेसर हैं किसी कालेज मे ?"

"जी। ···आप मेरे सहयोगी हैं, अनिल बाबू। कलाप्रेमी, कला-मर्मज्ञ।"

"बड़ी कृपा की आपने।"

"और आप बहुत दिनों मे तशरीफ लाए, खां साहब ?"

"बिचारे खां साहब को कौन पूछता है, देवी जी ?"

"पूछा ही सबसे पहले आपको है।" शब्द किसी और के थे। तुरन्त उत्तर आया—

"इसमें भी रश्क हो गया ?"

"रश्क नही, खां साहब। अपनी स्थिति स्पष्ट हो गई।"

"हां, तो आज कैसे कृपा की?"

"यह भी कोई प्रश्न है?"

"क्यों नही?"

"यदि मैं अर्ज करूँ कि इबादत के लिए हाजिर हुआ हूँ तो?"

"मुझे कहना पड़ेगा कि खां साहब अच्छा-खासा झूठ बोल लेते हैं।" सब हँसने लगे। खां साहब बोले :

"देवीजी! बात सच यह है कि इस शहर में बहुत कम स्थान अब भले आदमियों के जाने-आने के लिए रह गए हैं। कला साहित्य की तो कही बात ही नहीं होती। संगीत का केवल जनाजा ही नही निकला, बल्कि वह बहुत गहरा कहीं जमीन में दफना दिया गया है। लोगों को बात करते हुए सुनते हैं तो इच्छा होती है कि कही दूर भाग चलें। कभी दूर जाते भी हैं तो और अधिक मुसीबत सामने खड़ी नजर आती है। ख्याल आता है, शायद अब इस दुनिया के लायक हम नही रहे या यह दुनिया हमारे लायक नही रही। फिर सोचते हैं कि दुनिया से भागने से काम नही चलता। कुछ स्थान विश्राम के मिल ही जाते हैं। उनमे से एक स्थान आपका यह घर है।"

"खूब!"

"सच नही हैं?"

"क्यो नही।"

"मैंने जो अर्ज किया है वह सही वाका है। कही भी आप चले जायें चर्चा सुनेंगे तो पैसे की, पोलिटिक्स की, पब्लिसिटी की, सत्ता की, सेक्स की। देश और समाज के दुख-दर्द को समझने व उसको मिटाने की कोई चिन्ता व प्रयत्न नही करता। बात, केवल बात, सिर्फ बात करके सब बडे-बडे देश का दुख-दर्द मिटा देना चाहते है। गरीबो की दुहाई सत्ता और पैसा हथियाने का साधन बन गई है। बडों बड़ों मे नई वड़ी जगह चले जाइये; देखने को मिलेगा ताश का खेल, शराब, कमसिनों के शबाब की सौदेबाजी। कला के सस्थानों में कलाकार नही, साहित्यकारों की गोष्ठियों में साहित्यकार नहीं, महफिलों मे शायर नहीं, गायक नहीं,

"जाना जा सकता है परन्तु सब कुछ नहीं।"

"क्या सब कुछ कभी भी जाना जा सकता है?"

"शायद नहीं; शायद, हाँ।"

"फिर?"

"प्रश्न है, देवीजी। किसी विषय पर आखिरी मत, आखिरी शब्द, कब आयगा कोई नहीं कह सकता। पर प्रश्न से मंजिल तो तै होती ही है इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता।

"अवश्य।"

"फिर शुरू करूँ।"

"शौक से।"

"एकान्त की तो आवश्यकता नहीं?"

"बिल्कुल नहीं।" दिनेश ने अपने साथ लाया हुआ ध्वनि अंकन संयंत्र चालू कर दिया। प्रश्न हुआ:

"नाम?"

"रतिप्रिया।"

"उम्र?"

"२४ वर्ष।"

"अध्ययन?"

"साधारण।"

"कोई डिग्री आदि?"

"बिल्कुल नहीं।"

"शौक?"

"साहित्य, कला, नाच, गायन।"

"इनकी तरफ झुकाव कैसे हुआ?"

"घर के वातावरण से?"

"कब?"

"बचपन से ही।"

"परिस्थिति।"

"शिक्षित, संपन्न, सुसंस्कृत वातावरण।"

कहा—

"आपकी यात्रा विशेष कार्य के लिए है।"

"जैसे ?"

"आपने देश की अनेक स्त्रियों से साक्षात्कार किया है। एक विशेष *अध्ययन* की दृष्टि से उनके विचार जाने है। इधर राजस्थान में भी आपकी यात्रा का विशेष उद्देश्य है कि कुछ विशिष्ट महिलाओं से समालाप करें। आपको यदि आपत्ति न हो तो···"

"मैं तो विशिष्ट हूँ नही। बिलकुल साधारण औरत हूँ।"

"इसका निर्णय तो आप करेंगे।"

"दिनेश बाबू, हमारे अजय बाबू विनोदप्रिय व्यक्ति हैं। आज मेरी हँसी उड़ानी चाही तो आपको ले आये। क्यों खाँ साहब ?"

"यह बात तो नही है, देवीजी। विशिष्ट तो आप हो ही। इस शहर मे तो क्या, दूर-दूर भी। दिनेश बाबू, ऐसा व्यक्तित्व नही मिलेगा जो सहज बुद्धि से ठीक सीधा उत्तर दे सके। दे न दे यह आप पर निर्भर है।"

"आप भी इनसे साज कर गये, खा साहब ?"

"साजिश की बात है तो, जनाब, समझ लीजिये कि हमने गलत कहा है।"

"साजिश नही है, खां साहब।"

"फिर ठीक है।" परिस्थिति का निर्धारण कर कुछ क्षण के बाद रतिप्रिया बोली—

"आपके अध्ययन का माध्यम बनने मे मुझे कोई आपत्ति नहीं है, *श्रीमानजी ! कारण ,किसी मेहमान को निराश करना मेरी आदत नही* है। कितना समय लेंगे ?"

"जितना आप दे सकें।"

"विषय क्या होगा ?"

"पुरुष और नारी का संबंध।"

"यानी ?"

"काम।"

"क्या वह ग्रन्थो से नही जाना जा सकता ?"

"जाना जा सकता है परन्तु सब कुछ नहीं।"

"क्या सब कुछ कभी भी जाना जा सकता है ?"

"शायद नहीं; शायद, हाँ।"

"फिर ?"

"प्रश्न है, देवीजी। किसी विषय पर आखिरी मत, आखिरी शब्द, कब आयगा कोई नहीं कह सकता। पर प्रश्न से मंजिल तो तै होती ही है इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता।

"अवश्य।"

"फिर शुरू करूँ।"

"शौक से।"

"एकान्त की तो आवश्यकता नहीं ?"

"बिल्कुल नहीं।" दिनेश ने अपने साथ लाया हुआ ध्वनि अंकन संयंत्र चालू कर दिया। प्रश्न हुआ :

"नाम ?"

"रतिप्रिया।"

"उम्र ?"

"२४ वर्ष।"

"अध्ययन ?"

"साधारण।"

"कोई डिग्री आदि ?"

"बिल्कुल नहीं।"

"शौक ?"

"साहित्य, कला, नाच, गायन।"

"इनकी तरफ झुकाव कैसे हुआ ?"

"घर के वातावरण से ?"

"कब ?"

"बचपन से ही।"

"परिस्थिति।"

"शिक्षित, संपन्न, सुसंस्कृत वातावरण।"

"जीवन में भटकाव ?"

"अवश्य आया; परन्तु, संभल गई।"

"अब आप नारी की स्वतंत्रता को कितना महत्त्व देती है ?"

"मैं उसकी परतंत्रता की पोषक नही हूं, वैसे कोई भी प्राणी सर्व; स्वतंत्र नहीं है । न पुरुष, न नारी ! परन्तु जहाँ तक गुण और शक्ति के विकास के अवसरों का सवाल है नारी और पुरुष में कोई अन्तर नही होना चाहिए ।"

"नारी की शक्ति क्या है ?"

"वह सर्व समर्थ है, अनिल बाबू ।"

"तात्पर्य ?"

"यही कि कोई भी पुरुष उसकी शक्ति के शासन के आधिपत्य के बाहर नही है।

"वह शक्ति क्या है ?"

"काम ।"

"और यदि कोई काम से प्रभावित न हो ?"

"फिर वह पुरुष नही है । प्राणी भी नही है ।"

"प्रमाणस्वरूप ?"

"पुरुषों का लिखा सारा साहित्य । सूत्रकार, नाटककार, कवि, लेखक, गायक, मूर्तिकार, चित्रकार, संगीतकार, सभी तो नारी की काम शक्ति के आगे नतमस्तक है ।"

"तुलसीदास ने उसे हेय माना है ।"

"आप संदर्भ को काटकर बात करते हैं। क्या सीता, मन्दोदरी, कौशल्या, सुमित्रा उनकी सम्माननीय नारियाँ नहीं थी !"

"महाप्रभु चैतन्य भी तो नारी से दूर रहने की, उससे संभाषण न करने की शिक्षा देते थे । अपने शिष्य सेवक हरीदास को उन्होंने नारी से संभाषण करने के कारण अपनी सेवा से दूर कर दिया था । कवि जयदेव के एक गीत की स्वरलहरी की दिशा में वे उसकी ओर बढ गए पर ज्योंही उन्हें मालूम हुआ कि गायिका एक नारी है वे दूर से ही वापिस लौट गए और अपने सेवक को जिसने उन्हें यह सूचना दी उसे अपना रक्षक

घोषित किया । ऐसा क्यों ?"

"दिनेश बाबू । न मैं तुलसीदास हूं और न चैतन्य महाप्रभु । विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट परिस्थितियों से मैं परिचित नहीं हूं । किस संदर्भ मे क्यों किसने क्या कहा, मेरा ज्ञान नहीं है । फिर भी मेरा अपना अनुभव है कि नारी सर्व शक्ति का रूप है : पुरुष उसके द्वारा विजित रहा है और रहेगा । पशुबल मे यद्यपि वह पुरुष से हेय है परन्तु पशुबल ही एकमात्र बल नहीं है । शक्ति के आकारों, प्रकारों मे उसका स्थान बहुत नीचा है । यदि यह बात नहीं होती तो पशुबल के प्रतीक मगर, हाथी, सिंह मानव की शक्ति के वशीभूत न रहते । नारी अपनी शक्ति के कारण अपराजेय है, दिनेश बाबू ।"

"क्या कोई प्रामाणिक आधार आप प्रस्तुत कर सकती हैं ?"

"क्यों नहीं ?"

"जैसे ?"

"सृष्टि के प्रारम्भ की कल्पना कीजिये । ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे हमें सर्वप्रथम काम के आविर्भाव का सूत्र मिलता है जब प्रकृति अपनी निर्द्वन्द्व अवस्था मे थी । अव्यय पुरुष मे सर्जन की कामना उत्पन्न हुई । क्यो ? पुरुष प्रकृति के बिना बेचैन था, दुखी था । लाखों-करोड़ों वर्षों के बाद आज भी वही अवस्था है । पुरुष नारी के अभाव में बेचैन है । वही उसके सुख का आगार है । जब नारी यह समझ लेती है वह अपराजेय हो जाती है । वेदों का वह अव्यय पुरुष आज के पुरुष का ही प्रतीक है और निर्द्वन्द्व प्रकृति नारी का ।...और आगे चलिए । हिरण्यगर्भ सूक्त का हिरण्यगर्भ कामदेव के अलावा और कुछ भी नहीं । वह उभयलिंगी, अर्द्धनारीश्वर था । उत्पत्ति के लिए, विकास के लिए उस उभयलिंगी अर्द्ध-नारीश्वर को पुरुष और नारी में विभक्त होना पड़ा । कारण, अकेला पुरुष अपने विकास के लिए, अपनी उन्नति के लिए अयोग्य था, अपात्र था, निरर्थक था । काम की गरिमा हमारे ऋषियो से छिपी हुई नहीं थी । सन्तुलित काम को उन्होने श्रेय और अनुचित कामाचार को उन्होंने अश्रेय और निषिद्ध माना है । यम-यमी का संवाद, ऋषि सोम का वर्णन आदि-आदि अनेक स्थल हमको हमारे सर्व प्राचीन ग्रन्थो

में मिलेंगे जो काम की सर्वव्यापकता और सर्वसत्ता का दिग्दर्शन अपने को करा सकते हैं। क्योंकि काम की तृप्ति का आधार सर्वश्रेष्ठ रूप से एकमात्र नारी है इसलिए उससे महत्त्वपूर्ण और कोई वस्तु पुरुष के लिए नहीं हो सकती।"

"और कुछ ?"

"अथर्ववेद का महा वाक्य, 'कामोजज्ञे प्रथमो' ऋगवेद के सूत्र 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' को छोड़ता नहीं। इस धर्मग्रन्थ मे काम विवेचन के साथ-साथ प्रणयिजनों के विविध व्यापारो की झांकी भी हमें मिलती है। काम के सन्तुलित उपभोग का मार्ग विवाह है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त मे सूर्या के माध्यम से विवाह का आदर्श उपस्थित किया गया है। यजुर्वेद मे भी काम का वर्णन प्रतीकात्मक रूप में अश्वमेध यज्ञ के संदर्भ से किया गया है।"

"क्या वह हेय और कल्पना के बाहर की वस्तु नही है, देवीजी ? *क्या एक राज-महिषी भव्य अश्व के साथ कामाचार स्वीकार करेगी ?"*

"यदि आप प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को सहज शब्दों के अर्थ में पढ़ेंगे तो भारतीय शास्त्रों को सही अर्थों मे कभी नही समझ सकेंगे। यहाँ अश्व वेग, स्फूर्ति, बल और तेज का प्रतीक है। पहले-पहले अश्वमेध यज्ञ पुत्र-प्राप्ति के लिए ही किया जाता था। कालान्तर मे सौ यज्ञों से इन्द्र पद-प्राप्ति की धारणा विकसित हुई। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता और शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिताओं मे यह प्रकरण नाटक रूपों मे हमे मिलता है। वात्स्यायन के कामसूत्र की हस्तिनी, मृगी, प्रौढ़ा, मुग्धा नारियो के रूप में हमे यही मिलते हैं। अश्व, शश, वृष, [illegible] चण्डवेग

क्रिया की द्योतक है। छन्दोमास यज्ञ मे त्रिष्टुभ और जगती छन्दों की साथ-साथ उच्चारण शैली मैथुन क्रिया की प्रतीक है।"

"आपकी ये सूचनाए ?"

"काशी के वेदज्ञ विद्वानों से मूल रूप में सुनी व देखी हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि काम सर्वव्याप्त होने के कारण धर्मसम्मत है, वर्जित बिलकुल नही है। बृहदारण्यक ब्रह्मानन्द की प्रतीति को रत्यानन्द की अनुभूति से उपमित करता है। इसके अनुसार परलोक में स्थापित होने के लिए मैथुन-ज्ञान आवश्यक है। सभोग का स्पष्ट चित्र इसमें वर्णित है। छन्दोग्योपनिषद में किसी भी स्त्री को त्यागने की वर्जना है। कामार्त और सभोग की प्रार्थना करने वाली परदारा के साथ भी संभोग निषिद्ध नही माना गया है। जैसे-जैसे समय बीतता गया तथा साहित्य नया रूप लेता गया और काम के संबंध मे नई-नई प्रविष्टियां उनमें आती गईं धर्मसूत्रों और गृह्य सूत्रों में उनका समावेश हुआ। संभोग सुविधा न रह कर एक संस्कार बन गया। गौतम धर्मसूत्र, वसिष्ट धर्मसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, आपस्ताम्ब गृह्यसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, कामसूत्र, मनुस्मृति आदि सभी ग्रन्थों ने समाज की सुव्यवस्था व उसमें काम तृप्ति के समुचित साधनों की ओर संकेत किया। अगर हम समस्त श्रौत और स्मार्त साहित्य का अवलोकन करें तो हमें मालूम होगा कि काम के सबन्ध मे उनमें बहुत व विविध सामग्री है।"

"क्या वात्स्यायन के पूर्व भी कामशास्त्री हुए है ?"

"क्यों नही ?"

"जैसे ?"

"श्वेतकेतु, बाभ्रव्य, चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, कुचुमार आदि। वात्स्यायन ने अपने सभी पूर्ववर्ती आचार्यों का लाभ उठाया है, दिनेश बाबू! भारत में काम विद्या के संबंध मे एक ऐसा समय आ गया था जब विद्वान लोग उसके विविध अंगों मे विशिष्टीकरण करने लगे थे। इससे विषय की व्यापकता तो बढ़ गई पर साथ ही वह तितर-बितर भी हो गया। वात्स्यायन ने इसे चरम विकास पर पहुंचाया।

मे मिलेंगे जो काम की सर्वव्यापकता और सर्वसत्ता का दिग्दर्शन अपने को करा सकते हैं। क्योंकि काम की तृप्ति का आधार सर्वश्रेष्ठ रूप से एकमात्र नारी है इसलिए उससे महत्त्वपूर्ण और कोई वस्तु पुरुष के लिए नही हो सकती।"

"और कुछ ?"

"अथर्ववेद का महा वाक्य, 'कामोजज्ञे प्रथमो' ऋगवेद के सूत्र 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' को छोड़ता नही। इस धर्मग्रन्थ मे काम विवेचन के साथ-साथ प्रणयिजनों के विविध व्यापारो की झांकी भी हमे मिलती है। काम के सन्तुलित उपभोग का मार्ग विवाह है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त मे सूर्या के माध्यम से विवाह का आदर्श उपस्थित किया गया है। यजुर्वेद मे भी काम का वर्णन प्रतीकात्मक रूप मे अश्वमेध यज्ञ के संदर्भ से किया गया है।"

"क्या वह हेय और कल्पना के बाहर की वस्तु नही है, देवीजी ? क्या एक राज-महिषी भव्य अश्व के साथ कामाचार स्वीकार करेगी ?"

"यदि आप प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को सहज शब्दों के अर्थ मे पढ़ेंगे तो भारतीय शास्त्रों को सही अर्थों में कभी नही समझ सकेंगे। वहाँ अश्व वेग, स्फूर्ति, बल और तेज का प्रतीक है। पहले-पहले अश्वमेध यज्ञ पुत्र-प्राप्ति के लिए ही किया जाता था। कालान्तर मे सौ यज्ञो से इन्द्र पद-प्राप्ति की धारणा विकसित हुई। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय सहिता और शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी सहिताओ मे यह प्रकरण नाटक रूपो में हमे मिलता है। वात्स्यायन के कामसूत्र की हस्तिनी, मृगी, प्रौढा, मुग्धा नारियों के रूप मे हमें यही मिलते है। अश्व, शश, वृष, मन्दवेग, चण्डवेग पुरुषों के प्रतीकात्मक प्रकार है। 'परदारा,' 'जार' नायक-नायिका-भेद से सबंधित हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र की भूमिका के हमे इन वैदिक स्थलो मे दर्शन होते हैं जब सहवास की दृष्टि से वह हस्तिनी-महिषी को अश्व के साथ, मृगी शश के साथ, वडवा वृष के साथ व परिवृक्ता मंदवेग चण्डवेग के साथ योजित करता है। ब्राह्मण ग्रन्थो ने संभोग को आध्यात्मिकता तक पहुंचा दिया है। शतपथ ब्राह्मण में 'सद्,' का दर्शन सभोग के दर्शन से होता है। "प्रवो देवाय अग्नये" की उच्चारण-विधि सहवास

क्रिया की द्योतक है। छन्दोमास यज्ञ में त्रिष्टुभ' और जगती छन्दो की साथ-साथ उच्चारण शैली मैथुन क्रिया की प्रतीक है।"

"आपकी ये सूचनाएं ?"

"काशी के वेदज्ञ विद्वानो से मूल रूप में सुनी व देखी हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि काम सर्वव्याप्त होने के कारण धर्मसम्मत है, वर्जित बिल्कुल नहीं है। बृहदारण्यक ब्रह्मानन्द की प्रतीति को रत्यानन्द की अनुभूति से उपमित करता है। इसके अनुसार परलोक में स्थापित होने के लिए मैथुन-ज्ञान आवश्यक है। संभोग का स्पष्ट चित्र इसमे वर्णित है। छन्दोग्योपनिषद में किसी भी स्त्री को त्यागने की वर्जना है। कामार्त और सभोग की प्रार्थना करने वाली परदारा के साथ भी सभोग निषिद्ध नही माना गया है। जैसे-जैसे समय बीतता गया तथा साहित्य नया रूप लेता गया और काम के संबंध में नई-नई प्रविष्टिया उनमे आती गई धर्मसूत्रों और गृह्य सूत्रों में उनका समावेश हुआ। संभोग सुविधा न रह कर एक संस्कार बन गया। गौतम धर्मसूत्र, वसिष्ट धर्मसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, आपस्ताम्ब गृह्यसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, कामसूत्र, मनुस्मृति आदि सभी ग्रन्थो ने समाज की सुव्यवस्था व उसमें काम तृप्ति के समुचित साधनो की ओर संकेत किया। अगर हम समस्त श्रौत और स्मार्त साहित्य का अवलोकन करें तो हमें मालूम होगा कि काम के सबन्ध मे उनमें बहुत व विविध सामग्री है।"

"क्या वात्स्यायन के पूर्व भी कामशास्त्री हुए है ?"

"क्यों नही ?"

"जैसे ?"

"श्वेतकेतु, वाभ्रव्य, चारायण, सुवर्णनाभ, धोटकमुख, गोनर्दीय, कुचुमार आदि। वात्स्यायन ने अपने सभी पूर्ववर्ती आचार्यों का लाभ उठाया है, दिनेश बाबू ! भारत मे काम विद्या के संबंध में एक ऐसा समय आ गया था जब विद्वान लोग उसके विविध अंगों में विशिष्टीकरण करने लगे थे। इससे विषय की व्यापकता तो बढ़ गई पर साथ ही वह तितर-बितर भी हो गया। वात्स्यायन ने इसे चरम विकास पर पहुंचाया।

"वात्स्यायन की परपरा फिर टूटी क्यो ?"

"राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण। ऐसी बात नही है अनिल बाबू, कि उनके बाद मे इस विषय पर किसी ने अपनी कलम न चलाई हो। परन्तु, ऐसा मालूम होता है कि देववाणी सस्कृत और उसकी धारा मे नया मोड आ गया। सूत्रगत अभिव्यक्ति का स्थान शनैः शनैः पूर्ण विवरण व वर्णन ने ले लिया। टीकाए, मीमासाएं, नाटक, किरातार्जुनीय, अमरुशतक, नैषधीय चरित, शिशुपाल-वधम्, मालती माधवम्, रघुवशम्, अभिज्ञान शाकुन्तल, रत्नावली आदि ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिन्होंने वात्स्यायन के कामसूत्र से बहुत कुछ प्रेरणा ली है।"

"जैसे ?"

रतिप्रिया कुछ क्षण के लिए अपनी किसी विचारधारा मे लीन हो गयी। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद वह बोली—

"दिनेश बाबू ! वात्स्यायन का मत है कि समस्त की स्थिति में पुरुष स्त्री एक-सा रति-सुख प्राप्त करते हैं। नैषधीय चरित्र मे शीघ्र भावी दमयन्ती को उपचारो से नल समान सुख प्राप्त करवाता है। माघ ने शिशुपालवध मे स्तनालिगन और नीरक्षीरकालिगन का वर्णन किया है। मुख-चुम्बन और निमित्तक का वर्णन भारवि के किरातार्जुनीय और कालिदास के कुमारसंभवम् मे हमें मिलेगा। नखक्षत और दन्तक्षत के वर्णन भी हम इन्ही मे पायेंगे। चुम्बन की लज्जा हमे अमरुशतकम् मे देखने को मिलेगी। सीत्कारों का वर्णन और प्रयोग शिशुपालवध और किरातार्जुनीय मे उपलब्ध है। नीवीमोक्ष, मद्यपान, कुचस्पर्श नाभिस्पर्श शिशुपालवध के विषय है। कालिदास के रघुवश के अग्निवर्ण कामसूत्र-उल्लिखित नागरक के एक अनुयायी मालूम देते हैं। उसी प्रकार इन्दुमती और अज के पाणिग्रहण के समय रोमाच और पसीने से द्रवित हो जाने का वर्णन है। जयदेव ने गीतगोविन्द मे विपरीत रति का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आवश्यकतानुसार प्रायः सभी संस्कृत के सक्षम साहित्यकारो ने वात्स्यायन के कामसूत्र का अनुसरण किया है। इसी से हम समझ सकते हैं कि कामशास्त्र और साहित्यकार का आरभिक काल से एक अटूट सबन्ध रहा है। ससार मे संसारियो के लिए यह काम

एक मूल व मुख्य प्रेरणा है। यही एक शक्ति है जो मानव को बड़े से बड़े कार्य की प्रेरणा देती है व अपने संकल्पों से श्रेय या हेय बनाती है। शक्ति का मूल स्रोत होने के कारण कोई कला, व्यापार, प्रयत्न इस काम से शून्य नही है। ऐसी परिस्थिति मे नारी को, जो काम की आगार है अपराजेय मानने मे किसी पुरुष को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। क्रीडास्थली के अभाव मे जैसे क्रीडा का कोई अस्तित्व नही होता वैसे ही नारी के अभाव मे पुरुष के सुख का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रकृति के अभाव मे पुरुष अस्तित्वहीन है। उसका पौरुष व्यर्थ और बेकार है।"

रतिप्रिया के वक्तव्य को सुन सभी हतप्रभ रह गये। दिनेश, अनिल, खन्ना साहब सभी उसके अध्ययन, मनन और निर्णयो के प्रति आश्वस्त थे। उसने देखा कि उपस्थितों में से कुछ उबासी लेने के प्रयत्न मे है। उसने मोहन को आवाज दी। उसके उपस्थित होने पर उसने बहुत शीघ्र चाय लाने का आदेश दिया। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद अनिल ने प्रश्न किया, "क्या आप कह सकती हैं कि कामसूत्र की रचना कब हुई ?"

"तीसरी शताब्दी में अथवा उसके करीब।"

"आधार ?"

"कालिदास, भारवि, माघ आदि संस्कृत कवियो ने उसके अनेक स्थलों का लाभ उठाया है। इंगलैण्ड के सर रिचार्ड बर्टन और एफ० एफ० अरबथनोट ने लदन में सन् १८८२ में कामशास्त्र सोसाइटी की नीव रखी थी। इन अंग्रेज विद्वानों ने वात्स्यायन के मूल ग्रन्थ की खोज की और फिर संस्कृत विद्वानों की सहायता से उसका अंग्रेजी अनुवाद किया। भारतीय कामशास्त्र के ज्ञान के लिए भारतीय इन अंग्रेज विद्वानो के ऋणी हैं। उन्नीसवी शताब्दी के आखिरी चरण मे तो अनेक अन्य ग्रन्थो का भी पता चल गया। मध्यकालीन युग मे फिर एक बार कामशास्त्र का पुनरावलोकन हुआ।"

"मध्यकालीन युग से आपका तात्पर्य ?"

"करीब १२वी शताब्दी।"

"उसके पहले ?"

"करीब एक सहस्र वर्षों तक एकमात्र वात्स्यायन के कामसूत्र की सत्ता कायम रही।"

"फिर?"

"बारहवीं शताब्दी मे पारिभद्र के पुत्र कवि कोका ने "रति रहस्य" की रचना की। यह पुस्तक श्री वैन्यदत्त राजा के कामविषयक कुतूहल की परितुष्टि के लिए रची गई थी। वात्स्यायन को इस कवि ने अपना आधार बनाया। इस रचना की इतनी प्रसिद्धि हुई कि इसका नाम ही कोकशास्त्र पड़ गया। पद्मिनी, चित्रिणी, शखिनी एवं हस्तिनी नाम देकर कोका पंडित ने नायिका-भेदों का निरूपण और उनके सहवास की तिथियो तथा यामो का वर्णन किया। यह प्रभाव वराह मिहिर द्वारा रचित उसकी बृहद् संहिता का था। वराह मिहिर एक अद्वितीय ज्योतिषी था जिसने यह सिद्धान्त स्थापित किया था कि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारो का असर समकालीन जीवन पर पडता है। छठी शताब्दी की उसकी इस रचना का कोका पंडित पर भी प्रभाव पडा और उसने तिथियों के सहारे स्त्री के विभिन्न अंगो मे काम की स्थापना के सिद्धान्त का अविष्कार किया। वात्स्यायन और कोका पडित के समय की सामाजिक परिस्थितियों मे एक बहुत बडा अन्तर आ गया था। एक हजार वर्ष पूर्व जो काम की दृष्टि से एक स्वतत्र समाज था वे स्वतत्र परिस्थितिया अब नहीं रही थी। विवाह प्रथा समाज का एक अभिन्न अंग बन गई थी। स्वतंत्र यौन संबन्ध वर्जित हो गया था। कोका पडित ने अपने समाज की परिस्थितियों के अनुकूल यौन शिक्षा दी।"

"क्या प्राचीन भारत मे मुक्त यौन संबंधों पर प्रतिबन्ध नहीं था?"

"बहुत कम। स्वय वात्स्यायन ने संबंधियो, ब्राह्मणों और राजाओं की पत्नियों से यौन संबन्ध स्थापित करने की मनाही की है। परन्तु विवाह पूर्व प्रेम-सबंध खुले थे। पति के लाभ के लिए पत्नी का अर्पण करना व हो जाना बुरा नहीं माना जाता था। लोग भोग-संभोग को समाज मे बुरा नही मानते थे। परकीया से भोग एक साधारण प्रवृत्ति थी।"

"और मध्यकाल मे क्या यह बन्द हो गया था?"

"बुरा माना जाने लगा था। जार कर्म न कभी बन्द हुआ, न बन्द

होगा। जब समाज मे परकीया से सभोग को व्यभिचार की सज्ञा दी लोगो ने बहु-विवाह पद्धति को अपना लिया। समाज के समर्थ लोग एक से अधिक विवाह अपनी काम-तृप्ति के लिए करने लगे। कोका पंडित के पूर्व ही विदेशी संस्कृतियां भारत मे स्थापित होने लगी थी। यूनान, रोम और अनेक देशो के लोग भारत मे बस गए थे। उनकी सस्कृतियो और धर्मों ने भारतीय जीवन को प्रभावित किया। दास प्रथा प्रचलित थी। वह भी काम-तृप्ति का एक साधन थी। वेश्याओं, नर्तकियों और गायिकाओं का समाज मे सम्मान था और वे भी काम-तृप्ति का माध्यम थी। इन सब परिस्थितियों के चालू रहते समाज की धारा को यौन विस्फोट का भय नही था। अनिल बाबू! काम शरीर में एक प्राकृतिक शक्ति है, तेज है, ऊर्जस्विता है। उसके दमन से शरीर में अनेक तरह के विकार और व्याधियां उत्पन्न होती है जिससे शरीर, मस्तिष्क, हृदय और जीवन तक खतरे मे पड़ जाता है। यदि जीवन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है तो उसकी रक्षा के लिए काम की तुष्टि का साधन, उसकी व्यवस्था होनी ही चाहिए। वह व्यवस्था वात्स्यायन ने दी थी। कोका पडित ने भी उससे अस्वीकृति नही की। रोटी-रोजी की व्यवस्था से यह कम महत्त्वपूर्ण नही है। जिनेवा कनवेन्शन के बाद जब से ससार के अनेक देशो में वेश्यावृत्ति का उन्मूलन प्रारम्भ हुआ है अनेक अन्य रूपों मे वेश्याओ के ये प्रकार प्रसारित होने लगे है। आज स्थिति-परिस्थिति यह है कि समाज का बडे से बडा सभ्रान्त घर इस दूषण-प्रदूषण से मुक्त नही है।"

"यह आप कैसे कहती है?" प्रश्न अनिल का था। रतिप्रिया बोली—

"अपने अनुभव से।" कुछ क्षण रुककर वह बोली—

"अनेक संस्थानो की महिला सेक्रेटरी, स्वागती क्या हैं? काल गर्ल्स का क्या व्यवसाय है? संभ्रान्त घरों के माता-पिता, अभिभावक अपनी किशोर पुत्रियों को खुली बाहो और जांघों के कपड़े पहनने की प्रेरणा देते हैं, क्यों? स्त्रियो में विशेषकर युवतियो मे नाभि, पेट, वक्ष का नंगा प्रदर्शन किस लिए? अनेक भोग की पुतलियाँ, प्रतिमाएँ, इन वेशों में छिपी हुई हैं अथवा छिपाकर रखी जाती हैं। कामुक वासना की तृप्ति के

ये ही तो संभावित स्थल हैं, अनिल बाबू !"

"क्या पंडित कोका के बाद भी इस विषय पर लिखा गया ?"

"अवश्य। ग्यारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच भिक्षु पद्मश्री हुए जिन्होंने 'नागर सर्वस्व' की रचना की। उनके अनुसार मनुष्य का रति-सुख क्योंकि पशु से भिन्न है, उन्होंने काम शास्त्र की उपादेयता पर ध्यान आकर्षित किया। केलि-भवन काम-तुष्टि के लिए कैसा होना चाहिए इसका उन्होंने वर्णन किया। वात्स्यायन के नागरक-निवास वर्णन का यह संक्षिप्त रूपमात्र है। स्थान और शरीर को किस प्रकार सुरभित किया जाना चाहिए उसकी प्रक्रिया इस भिक्षु ने दी। साहित्य की दृष्टि से इनका भाषा, अंग, पोटली, वस्त्र, ताम्बूल, पुष्पमालिका आदि का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। जहां कोका पंडित के कोक शास्त्र में स्त्रियों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष काम-चिह्नों का परिगणन और वर्णन मिलता है वहां पद्मश्री ने स्त्री के मदनमन्दिर की नाड़ियों को उत्तेजित करने के उपाय बताये हैं। इसके बाद कवि शेखर—ज्योतिरीश्वर के "पंचसायक"—की रचना है जिसमे नायिका-प्रकारों का वर्णन है। इस विषय के अन्य ख्यातिप्राप्त लेखकों में हमें कल्याण मल्ल, मैसूर नरेश प्रौढ़देव, जयदेव आदि के नाम मिलते हैं। काम विषय के आचार्यों मे कवि शेखर ज्योतिरीश्वर ने गोणीपुत्र अथवा गोणिका पुत्र, काश्मीर के महान कवि और नाटककार क्षेमेन्द्र और जैन परम्परा के अनुसार मूलदेव का नाम श्रद्धा से लिया है। परन्तु सारे अध्ययन और चिन्तन की सामग्री को यदि हम संक्षिप्त सार रूप में वर्णन करें तो निष्कर्ष इतना ही है कि वात्स्यायन को सबने अपना आदि आचार्य माना है और उन्ही के विचारों की बहुत अंशो मे सबने परिपुष्टि की है। वीरभद्र की "कंदर्प चूड़ामणि" मे अवश्य वात्स्यायन से बाह्य अवलेपों के संबन्ध मे मतभेद है। वीरभद्र बाह्य अवलेपों की काम-उत्तेजना मे सहायकता को स्वीकार करता है।"

"मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि के संबन्ध मे आपका क्या खयाल है ?"

"इस विषय में मेरे विचार स्वतंत्र हैं, दिनेश बाबू।"

"क्या हैं वे ?"

"मंत्र सिद्धान्त है, तन्त्र उसकी प्रक्रिया का नक्शा अथवा प्रतीक है

और यंत्र सिद्धान्त को मूर्तरूप में सफल और सार्थक करने का पदार्थ अथवा वस्तु। एक रहस्यात्मक सत्य को वैचारिक रूप में जब हम प्रकट करते हैं वह मंत्र होता है। स्मृति के लिए जब वह अंकित कर लिया जाता है उसकी संज्ञा तंत्र की हो जाती है। वस्तुगत कार्यशीलता यंत्र से प्राप्त की जाती है।"

"आपकी इस धारणा का आधार ?"

"मनन।"

"अध्ययन आदि ?"

"वह कुछ नहीं।"

"आप मंत्रों में विश्वास करती हैं ?"

"वे सर्व सत्य हैं। उनके बिना कोई प्रगति संभव नहीं है।"

"यौन के सबन्ध में और कुछ ?"

"कहा न, कि वह सर्वव्याप्त है, सर्वत्र सर्व शक्तिशाली है।"

"क्या नारी के अलावा पुरुष के लिए काम-तृप्ति के लिए और कोई माध्यम नही हो सकता ?"

"प्रश्न बहुत बड़ा है, अनिल बाबू। परन्तु यदि सच कहा जाय तो नारी ही एक सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।"

"किस उम्र तक ?"

"जब तक पुरुष मे शक्ति रहे।"

"क्या वह उससे कभी मुक्त भी होता है ?" सुनकर अब खां साहब माफी मांगते हुए बोल उठे, "अरे साहब! आप तो गालिब का यह शेर याद रखो—

"गो हाथो मे जुम्बिश नहीं, आंखों मे तो दम है।
रहने दो अभी सागर और मीना मेरे आगे।"

शेर सुनकर सब "वाह वाह" करने लगे। तभी मोहन चाय और कुछ खाने की सामग्री लेकर उपस्थित हो गया। दिनेश ने ध्वनि अंकन बन्द कर दिया। रतिप्रिया ने सबको पूर्ववत चाय अर्पित की। बीच-बीच में साहित्य की चर्चा चालू हो गई। खां साहब के बाद अनिल ने कवि बिहारी के दोहे को पढ़ा। दोहा था—

"अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहिं चितवत एक बार।।"

चाय की चुस्कियों के बीच महफिल का वातावरण जागृत हो उठा। तीसरे ने कवि केशव को सुनाया। वह बोला—

"केशव केसनि अस करी, जैसी रिपु न कराय।
चन्द्र वदन मृग लोचनी, बाबा कहि कहि जाय।।"

फिर वही ठहाका और वाह-वाह। चाय समाप्त होने के बाद रतिप्रिया बोली, "अनिल बाबू! आपके प्रश्न का उत्तर भी यहां पढ़े गए शेर और दोहों में अभिव्यक्त है।" उसने सुना "यह पुरुष का प्रतिनिधित्व कर सकता है, नारी का नहीं।" रतिप्रिया के चेहरे पर स्मित रेखाएं खेल गईं। वह कोई उत्तर देती उसके पहले ही खां साहब बोल पड़े "माफी चाहता हूं। बात तो कुछ अटपटी है और कही भी कुछ फूहड़ ढंग से है। यदि इजाजत हो तो अर्ज कर दूं।"

"अवश्य।"

"एक नायिका को उसके एक प्रेमी ने पूछा कि एक औरत प्रेम करने लायक कब तक रहती है। जानते है उसने क्या उत्तर दिया?"

"नहीं।"

"फिर सुनिये। वह बोली—आपके प्रश्न का उत्तर तो, शायद, मेरी नानी की अम्माजान ही दे सकती हैं।" सुनकर सारा उपस्थित समाज हँस उठा। खां साहब बोले, "यह उत्तर अपने विषय मे नारी के सत्य को उजागर करता है।" विषय परिवर्तन से वातावरण की गंभीरता को कुछ विश्राम मिल गया था। कुछ क्षण के विश्राम के बाद दिनेश बाबू ने पूछा—

"प्रारंभ करें?"

"अवश्य।" पुनः यंत्र चालित कर दिया गया। दिनेश ने पूछा—

"मध्यकाल में जब समाज के बन्धन धर्म, नैतिकता व सदाचार के कारण कठोर हो गए तब उसका यौन जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?"

"दिनेश बाबू! वह विवाह तो एक रास्ता निकला ही। शव पूजा का स्थान बहुतांश मे इन दिनों विष्णुपूजा ने ले लिया था। ऐसे युग में भारत

के धार्मिक मंच पर कृष्णपूजा स्थापित हुई। विवाह, धर्म, नीति सदाचार के नाम पर शिव की जगह जो विष्णु स्थापित हुए वे अवतारों की परं-परा में कृष्ण ने इनका स्थान ले लिया। मुक्त यौन पर जो रोक लगी उसका उत्पादन कला, साहित्य और धर्म में प्रकट हुआ। कलाकारों ने अपनी काम-ऊर्जस्विता को पत्थरों में उभारा, चित्रों में प्रकट किया, काव्यों, महाकाव्यों में बिखेरा, नाटकों में सजीव किया। जिस प्रकार यौन का प्रकटीकरण प्रदर्शन व्यक्ति में उसके अंगों पर, हाव-भाव में, बातचीत में, पोशाक में, सज्जा में, केशविन्यास आदि-आदि में होता है वैसे ही सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में उसका प्रकटीकरण व प्रदर्शन मन्दिरों में, भवनों में, उत्सवों की सजावट में, साहित्य में, कला में होने लगा। वैष्णव आधिपत्य काल में जिस शैव संस्कृति का दमन हुआ वही पुनः पत्थरों में सजीव हो उठी। खजुराहो, पुरी, कोणार्क, काशी के मन्दिर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जो वास्तविक जीवन में छूटा वही धर्म और मूर्ति में स्थापित हो गया। जीवन की काम-शक्ति ने पत्थरों को, कन्दराओं को, वस्तुओं को, धर्म को, दैनिक जीवन को अपने प्रभाव से ओतप्रोत कर दिया। वे विशिष्ट काम तक की मुद्राओं में सजीव हो उठे। श्रीमद्भागवत पुराण, गीतगोविन्द, साहित्य में इसके प्रमाण हैं। भीम, एलिफेण्टा, एलोरा, अजन्ता की गुफाएं इस परिवर्तन के सजीव उदाहरण हैं।"

"क्या भारतीय चित्रकला भी इससे प्रभावित हुई?"

"बहुत अंशों में। चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य का समय भारतीय लघुचित्रों का स्वर्ण युग रहा है। इस युग में विशिष्ट काम-आसनों के चित्र निर्मित हुए हैं। उड़ीसा में खजूर के पत्तों पर ऐसे चित्रों का उत्कीर्णन हुआ है। हाल ही में नव विवाहिता की पुस्तकों के रूप में ग्राम स्तर पर ऐसे ही काम-विशिष्ट चित्रों की रचना उड़ीसा में आरम्भ हुई थी। यद्यपि ये चित्र कोक शास्त्र के नाम से बिकते थे परन्तु वास्तविकता में इनके विशिष्ट काम आसन-स्वकल्पित व अनुमानित होते थे। राजस्थान, विशेषकर जोधपुर में, कांगड़ा और गुलेर की पहाड़ियों में भी ऐसे चित्रों की भरमार थी। सिरमूर रियासत के शासन में

साथ महल का जीवन उनका पूर्णरूप से भिन्न था। "जौहर" व्रतों से, उसके बलिदानों से तपी राजपूत ललनाओं को हम प्रेम की पुतलियो का स्वांग रचाते न सोच सकते हैं, न देख सकते हैं। जो चित्रित हुआ है या कराया गया है वह सब तो उनके महलों के बाहर का रोमान्स है। राजस्थान, मध्य प्रदेश व हिमाचल की पहाड़ियो के कलाचित्रों में प्रायः नारी प्रेमी की प्रतीक्षा मे खड़ी अथवा उसके वियोग मे विह्वल दिखाई गई है। इनमें नारी का वेश, उसका सौन्दर्य, उसका लालित्य, उसकी सुकुमारता सब महलों के ऐश्वर्य को प्रदर्शित करते हैं, उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। मगर वह सब इसलिए कि वह अभिजातवर्गीय सौम्यता, आकर्षण की पराकाष्ठा है और राजा लोग उस सौन्दर्य और ऐश्वर्यशील वातावरण के प्रति अपनी वासना में, अपने प्रेम मे समर्पित थे।" कुछ क्षण रुककर रतिप्रिया अपने विचारों का संकलन करने लगी। उसने आगे कहना शुरू किया—

"अनिल बाबू! चौथी से दसवीं शताब्दी के बीच सस्कृत कवियों को भी हम इसी काव्यात्मक जीवन की प्रेरणा देते देखते हैं।"

"जैसे?"

"यह समय संस्कृत काव्य और कविता का सर्वश्रेष्ठ समय था। कविता और काव्य के नायकों की रोशनी में इन दिनो वास्तविक नायकों को देखा व परिलक्षित किया जाता था। संस्कृत के कवि भानुदत्त की रस-मजरी ने देश व समाज के नायकों को काव्यात्मक जीवन की प्रेरणा दी। वासनात्मक प्यार ही वह वस्तु है जो काव्य को, कविता को, हृदय-स्पर्शी बनाता है। वासना ही भावात्मकता की आधारशिला व उसका स्रोत है। पन्द्रहवीं शताब्दी के इस कवि ने शारीरिक वासना के स्थान पर काव्यात्मक वासना का सहारा लिया और वह सभी कुछ लिखा जो यथार्थ जीवन मे न होते हुए भी हृदय मे प्रतिष्ठित था। सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी के कवि केशवदास साहित्य-जगत् मे अवतरित हुए। उन्होने काव्यात्मक वासना को और आगे बढ़ाया। इनकी कृति "रसिक प्रिया" इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि यथार्थ में जीकर भी, उसे न भोग कर भी, एक सामाजिक व्यक्ति काव्य के माध्यम से वासना के वांछित जीवन का आनंद उठा सकता है। इस कवि की नायिका विवाहिता होते हुए भी

राजा ऐसे ही चित्रों से अपने अतिथियों का मनोरंजन करता था। यह बात उन्नीसवीं सदी की है। दरबार मे राज्य के खर्च पर ऐसे चित्रो का निर्माण होता था। सत्रहवी शताब्दी व अठारहवी शताब्दी मे मुगल कला में ऐसे ही चित्रो की रचना चित्रकारों का आम पेशा था। मुगलों और अंग्रेजों के शासन के बीच भारत की भूमि राजाओं मे बंटी हुई थी और करीब ६५० से अधिक राज्य-रजवाड़े थे। राजा की योग्यता का एक प्रमाण उसका शिकारी और प्रजनन-क्षम अथवा मैथुन-समर्थ होना था। इसीलिए राजा लोग सब शिकार करते थे और अनेक रानियां व दासियां अपनी काम-तृप्ति के लिए रखते थे। इनके अलावा उनका अनेक वेश्याओं, नर्तकियों व गायिकाओ से भी यौन सबन्ध रहता था। उनके लिए ये ही दो काम, शिकार और कामाचार, शौर्य प्रदर्शन के लिए रह गए थे। अनेक राजाओ ने अपने विशिष्ट काम के चित्र कलाकारो से बनवाए थे ताकि उनके शौर्य का प्रमाण रह सके। ये चित्र के कोकशास्त्र न सही पर उसके मुकाबले के अवश्य थे। वासनाग्रस्त इन चित्रावलियो मे प्रेम-लीला की परिणति विशिष्ट काम आसन मे होती थी। जयदेव के गीत-गोविन्द की राधाकृष्णलीला ऐसी ही चित्रावलियो का एक ज्वलन्त व मूर्त उदाहरण है। हिमाचल प्रदेश की कांगड़ा और बसौली की पहाडियो मे क्रमश. सन् १७८० व सन् १७३० में इन चित्रावलियो का प्रदर्शन हुआ था। करीब एक सौ बीस चित्रों में दस चित्र ऐसे हैं जो राधा और कृष्ण को विशिष्ट काम-मुद्राओं मे चित्रित करते है। कामसूत्र पर आधारित होते हुए भी कोकशास्त्र भारतीय जीवन पर भी आश्रित था। इन चित्रावलियों मे कोकशास्त्र और भारतीय काम-जीवन का मिश्रित प्रभाव परिलक्षित है। कलाकार ने अपनी कृति मे शास्त्र और जीवन, वास्तविक जीवन, दोनो से प्रेरणा ली है।"

"क्या इन चित्रावलियो मे प्रदर्शित जीवन ही राजाओ का वास्तविक जीवन था?"

"नहीं, अनिल बाबू! यह उनका काव्यमय, काव्यसुलभ अथवा काव्यात्मक जीवन था। राजस्थान के राजाओं की प्रेमलीला वेश्याओं, नर्तकियों, रखैलों और गायिकाओं तक ही सीमित थी। अपनी रानियों के

साथ महल का जीवन उनका पूर्णरूप से भिन्न था। "जौहर" व्रतों से, उसके बलिदानों से तपी राजपूत ललनाओं को हम प्रेम की पुतलियो का स्वांग रचाते न सोच सकते हैं, न देख सकते हैं। जो चित्रित हुआ है या कराया गया है वह सब तो उनके महलों के बाहर का रोमान्स है। राजस्थान, मध्य प्रदेश व हिमाचल की पहाड़ियो के कलाचित्रो में प्राय: नारी प्रेमी की प्रतीक्षा मे खड़ी अथवा उसके वियोग मे विह्वल दिखाई गई है। इनमें नारी का वेश, उसका सौन्दर्य, उसका लालित्य, उसकी सुकुमारता सब महलों के ऐश्वर्य को प्रदर्शित करते हैं, उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। मगर वह सब इसलिए कि वह अभिजातवर्गीय सौम्यता, आकर्षण की पराकाष्ठा है और राजा लोग उस सौन्दर्य और ऐश्वर्यशील वातावरण के प्रति अपनी वासना मे, अपने प्रेम में समर्पित थे।" कुछ क्षण रुककर रतिप्रिया अपने विचारों का संकलन करने लगी। उसने आगे कहना शुरू किया—

"अनिल बाबू! चौथी से दसवी शताब्दी के बीच सस्कृत कवियों को भी हम इसी काव्यात्मक जीवन की प्रेरणा देते देखते हैं।"

"जैसे?"

"यह समय संस्कृत काव्य और कविता का सर्वश्रेष्ठ समय था। कविता और काव्य के नायकों की रोशनी में इन दिनो वास्तविक नायकों को देखा व परिलक्षित किया जाता था। संस्कृत के कवि भानुदत्त की रसमंजरी ने देश व समाज के नायकों को काव्यात्मक जीवन की प्रेरणा दी। वासनात्मक प्यार ही वह वस्तु है जो काव्य को, कविता को, हृदयस्पर्शी बनाता है। वासना ही भावात्मकता की आधारशिला व उसका स्रोत है। पन्द्रहवीं शताब्दी के इस कवि ने शारीरिक वासना के स्थान पर काव्यात्मक वासना का सहारा लिया और वह सभी कुछ लिखा जो यथार्थ जीवन में न होते हुए भी हृदय में प्रतिष्ठित था। सोलहवी शताब्दी मे हिन्दी के कवि केशवदास साहित्य-जगत् मे अवतरित हुए। उन्होने काव्यात्मक वासना को और आगे बढ़ाया। इनकी कृति "रसिक प्रिया" इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि यथार्थ में जीकर भी, उसे न भोग कर भी, एक सामाजिक व्यक्ति काव्य के माध्यम से वासना के वांछित जीवन का आनंद उठा सकता है। इस कवि की नायिका विवाहिता होते हुए भी

अन्य प्रेमी की कामना करती है। विविध उपायो से वह अपने पति को धोखा दे सकती है। अपने प्रेमी के साथ पूर्व निश्चित स्थान पर भेंट करती है। वह मुक्त प्रेम का प्रदर्शन है, काव्यात्मक प्रेम की प्राप्ति है जिस पर धर्म, नैतिकता, समाज और उसके नियमों ने रोक लगा रखी थी। ऐसे साहित्य से, ऐसी कला से समाज भी विश्रृखलित नही होता और व्यक्ति की वासना की भी पूर्ति हो जाती है। अनिल वाबू! काव्य, कविता, साहित्य, नाच, गान, वादन, मूर्ति, स्थापत्य सभी का उद्देश्य शारीरिक वासना का उदात्तीकरण है। इनमे प्राप्य अथवा प्रदर्शित अभिव्यक्ति से व्यक्ति अपने काल, स्थान, वातावरण व सबन्धो की सीमाओ से परे की घटनाओं, मन्तव्य व रसो का काव्यात्मक अथवा कलात्मक आस्वादन कर सकता है। इनके माध्यम से सृष्टि के सारे सुख, दुख, भोग, उपभोग, रस खुले है। एक जीवन मे, अपने सीमित साधनो के कारण, अपनी सीमित क्षमताओ के कारण, जो व्यक्ति को उपलब्ध नही होता वह सब कुछ वह इस माध्यम से प्राप्त कर लेता है। हमारी सृष्टि ही नही बल्कि स्वर्ग के सुख तक इस काव्यात्मक अथवा कलात्मक प्राप्ति की सीमाओं से बाहर नही है। उर्वशी मेनका, रभा का रति-सुख इसी तरह ऋषियो और धरती के राजाओ ने प्राप्त किया था। अकल्पित, असभव की प्राप्ति का यह माध्यम है, अनिल बाबू।"

रतिप्रिया ने अपने वक्तव्य में एक बहुत बड़ी बात कह दी थी। उपस्थित समाज की आंखें और कान उसके मुख और वाणी पर आरोपित थे। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद रतिप्रिया ने कहा :

"अनिल बाबू! कल्याणमल के "अनगरंग" को यदि हम ध्यान-पूर्वक पढ़ें तो हमें इन लेखको का वास्तविक मन्तव्य समझ मे आ सकता है। वह लिखता है कि आज तक किसी ने ऐसी पुस्तक नही लिखी जो पति-पत्नी को वियोग मे बचा सके, जीवन-भर साथ रहने की प्रेरणा व उपाय दे सके। मुझे उन पर दया आई और मैंने यह पुस्तक लिखी। वह कहता है, 'नाना प्रकार के सुखों के अभाव के कारण और एक ही प्राप्ति की एकरसता, विरसता, नीरसता व ऊब के कारण पुरुष अन्यत्र औरों की ओर झांकता है और जाता है। इसलिए उसे चाहिये कि अपने भोग-

उपभोग का वह निरन्तर परिवर्तन करे। कभी उसमें सन्तुष्टि न आने दे। इस प्रकार एक ही से अनेक संपर्क स्थापित हो सकेंगे। भोग, उपभोग, संभोग के इन विविध परिवर्तनों से ऊब नहीं आयेगी, विरसता, नीरसता दूर रहेगी। शयन मन्दिर में शयन सज्जा पर जो पति-पत्नी निरन्तर नव काम-कलापों का आविष्कार व आश्रय लेते हैं उन्हीं का गृहस्थ जीवन सदैव सुखी रह सकता है।' कल्याणमल के ये विचार सर्वत्र व सर्व समय में सदैव सत्य हैं?"

कुछ क्षण विरम कर उसने कहा, —"पन्द्रहवी शताब्दी में एक खिलजी शासक ने पन्द्रह हजार औरतों का दरबार अपने भोग के लिए निर्मित किया। कृष्ण के संबन्ध में हम सोलह हजार गोपियों की बात पढते है। अनेक भारतीय शासकों ने अपने भोग के लिये स्त्रियों की अनेक कतारें इकट्ठी की। अरब और अन्य मुसलमानी शासको के हरम अनेक औरतो से भरे हैं। मात्र भोग-परिवर्तन के लिए ही तो यह सब होता है। भोग और शिकार की यह प्रवृत्ति धन और वैभव की अधिकता के साथ अधिक बढ़ती है। तिलोद पक्षी का शिकार राजस्थान के और वर्तमान में अरब देशों के शासक इसलिए करते हैं कि उसका मास उनकी कामशक्ति को बढ़ाता है। परन्तु क्या इन सबसे कभी किसी की तुष्टि हुई? क्या कलात्मक अथवा काव्यात्मक परिवर्तन का मुकाबला वस्तु अथवा शरीर-परिवर्तन कर सकता है? क्या काव्यात्मक भोग-उपभोग सर्वसुलभ और उससे अधिक व्यापक नहीं है? एक में, एक से अनेक का भोग कलात्मक अथवा काव्यात्मक भोग है, उसकी तुष्टि है।" ज्योंही रतिप्रिया ने चुप्पी साधी दिनेश ने पूछा—

"अर्वाचीन लेखकों पर क्या आप कुछ प्रकाश डाल सकती हैं? जैसे सिगमण्ड फ्रायड···"

"फ्रायड मूलतः मनोवैज्ञानिक थे जबकि वात्स्यायन, कोक, कल्याणमल आदि समाजशास्त्री। दोनों के दृष्टिकोणों में भेद स्वाभाविक है। फ्रायड अवचेतन को गत्यात्मक और कर्मशील मानते हैं। उनके विचार से व्यक्ति शैशव से मृत्यु तक काम-शक्ति से प्रभावित रहता है। इदम्, अहम्, पराहम् गतिशील व्यक्तित्व के अंग हैं। इनका सन्तुलन सफलता का और

असंतुलन विकार का द्योतक है। इसके बाद एडलर हैं जिनका सिद्धान्त है कि व्यक्ति में स्वभावत: आत्महीनता का भाव होता है। उस पर विजय पाने की मानव की निरन्तर प्रेरणा और प्रयत्न चलते हैं। वह संपूर्ण बनने के प्रयास में अग्रसर होना चाहता है। मनुष्य के समस्त चरित्र और व्यक्तित्व का यही मूलाधार है। इनके अलावा एक अन्य लेखक युग हैं। ये फ्रायड के बहुत समीप हैं। फ्रायड लुब्धा को मानसिक ऊर्जा का आदि स्रोत मानते हैं। इसका प्रमुख उपादान कामवृत्ति है। जीवन मे इस कामवृत्ति का स्थान सर्वोपरि है और उसी का सबसे अधिक समाज मे दमन होता है। उनके अनुसार लुब्धा एक ऐसी शक्ति-व्यवस्था है जो अविनाशित्व सिद्धान्त से सचालित और परिचालित होती है। एक क्षेत्र से हटाई जाने पर दूसरे क्षेत्र मे यह प्रस्फुटित व अभिव्यक्त हो जाती है। काम-प्रवृति कायिक प्रक्रिया व लुब्धा मानसिक प्रक्रिया है। लुब्धा के विकास की सुनिश्चित अवस्थाएं होती हैं। प्रत्येक अवस्था में विशिष्ट काम क्षेत्र पर उसका प्रभाव रहता है। युग ने फ्रायड और एडलर का समन्वय किया है। फ्रायड के लुब्धा सिद्धान्त को वे मानते है पर उनके विचार से कामात्मक रूप के साथ-साथ उसकी अभिव्यक्ति अधिकार-लिप्सा में भी होती है।" कुछ क्षण अपनी स्मृति का संकलन कर रतिप्रिया बोली—

"इनके अलावा भी ओटो रैंक, रिवर्स और सूती विचारक हुए हैं जिन्होंने फ्रायड से अपनी विचार-भिन्नता व्यक्त की है। रैंक का मत है कि मानव मे विकृति का उद्‌भव जन्म के सवेगात्मक उद्‌वेग से होता है। प्रिय व्यक्ति से वियोग कराने वाली स्थिति को उन्होने चिन्ता का मूल-भूत और व्यापक कार्य माना है। जीवन मे यह चिन्ता दो रूपों मे व्यक्त होती है : जीवनभय और मृत्युभय। इनसे मुक्ति इनके अनुसार तभी मिलती है जब व्यक्ति समाज की धारा मे सामान्य व्यक्ति की तरह अपने को प्रवाहित कर दे, स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करे, दोनों के अभाव मे विकृति को अपना ले।—रिवर्स और सूती फ्रायड के उग्रतम अशो को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार अवचेतन की ऊर्जा का प्रयोग और दमन विवेक से होता है। भय और विकारों से मुक्ति समाज मे अच्छे सहायक संबन्ध बनाने से हो सकती है। उनका यह मत उन्हें भारतीय

समाजशास्त्रियों के निकट स्थापित करता है। पूर्वकथित विचारकों की सूची में हार्नी, फ्राम, सुलीवन के नाम भी गिनाए जा सकते हैं। सुश्री हार्नी व्यक्ति की विकृति को मूलभूत चिंता के संदर्भ में स्पष्ट करती है। फ्राम के अनुसार मनोविज्ञान की समस्या मूल प्रवृत्ति की संतुष्टि या कुण्ठा से संबंधित नहीं है बल्कि बाह्य जगत् के संबंधों से जुडी हुई है। मनुष्य और समाज के संबंध परिवर्तनशील हैं। भूख, प्यास, काम जैसी प्रवृत्तियाँ सार्वजनीन हैं। ऐन्द्रिकता, प्रेम, द्वेष, विचार, अधिकार, लिप्सा सामाजिक प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं। इसलिए समाज केवल दमन ही नहीं करता निर्माण भी करता है। इनके अलावा भी थ्रोडिक, विल्हेम रीच, फ्रान्ज अलेक्जेण्डर, हैलिडे, कार्डिनर, मीड आदि फ्रायड से अपने भिन्न मत रखते हैं परन्तु जो मोड़ फ्रायड ने साहित्य व चिकित्सा जगत् में दिया है उसकी महत्ता का अनुमान सहज में नहीं लगाया जा सकता।"

"क्या आपने इन सबको पढ़ा है?"

"कुछ-कुछ। इनके संबंध में भाषण सुने हैं; आलोचनाएं संक्षिप्त रूप से पढी हैं। विद्वानों के शोध-ग्रन्थों से मैंने बहुत कुछ हासिल किया है। वे प्रामाणिक होते हैं।"

"बस?"

"सत्य तो इतना ही है।"

"आपने कहा है कि नारी अपराजेय है…"

"सो तो वह है ही।"

"कैसे?"

"यदि यह नहीं होता तो क्या मैं आप सबको इतनी देर यहाँ ऐसे बाँधे रखती?" रतिप्रिया के चेहरे पर स्मिति छा गई। उपस्थिति में से एक बोला:

"यह खूब कहा।"

"क्या यह असत्य है?"

"बिल्कुल नहीं।"

"आप इसी घर में क्यों आए? क्यों आते हैं?"

"आपके लिए।"

"क्यों बैठे ? क्यों बैठे रह गए ?"

"आपके कारण।"

"मैं नीचे चली जाती, क्या आप यहाँ टिकते ?"

"नहीं।"

"और किसी से मुलाकात दिनेश और अनिल बाबू ने क्यों नहीं की ?" सब चुप। रतिप्रिया ने ही उत्तर दिया—

"और कही रमणी रतिप्रिया उपलब्ध नही हुई। रतिप्रिया जानती है कि पुरुष के लिए रमणी जैसा आकर्षण और कही नही है। जब रमणी इस सत्य को समझ लेती है वह अपराजेय हो जाती है।"

"नारी की अपराजेय अवस्था कब प्रारंभ होती है ?"

"जब बिना आभूषणो के उसका शरीर सजने लगता है।"

"यह कब होता है ?"

"जब किशोरी अपने प्रति सजग होती है। जब पुरुष उसकी ओर आकर्षित होकर देखता है। जब सपाट वक्ष उन्नत होकर आकर्षित करते है। जब उसकी आँखें देखती है और देखने वाले को देखकर झुक जाती हैं।"

"नारी का सबसे बड़ा हथियार-प्रयोग क्या है ?"

"आँखें।...इसके सन्देश-शर पुरुष के लिए घातक होते हैं।"

"क्या आँखों मे इतनी शक्ति होती है कि वे सब-कुछ कह सकें ?"

"निश्चय ही। साधना से उनमे प्रखरता आ जाती है।"

"क्या नारी मात्र इसके लिए सक्षम है ?"

"हाँ और नही भी। यह सार्विक या विश्वव्यापक है; कारण, पुरुष और नारी दोनो अपने प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण अथवा परिवेश से प्रभावित होकर एक प्रकार बन जाते है। इसीलिए हर पुरुष के लिए हर नारी और नारी के लिए हर पुरुष उपयुक्त नही होता। सर्वसम अथवा एकरूप परिस्थितियो व विकास में जोड़ी ठीक बैठती है। थोड़ा-बहुत समंजन तो प्रकृतितः होता रहता है।"

"राजनीति में आपकी दिलचस्पी है ?"

"बिलकुल नही।"

"कारण ?"

"मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है।"

"किस राजनीतिक दल को आप अच्छा समझती हैं ?"

"किसी को भी नहीं।"

"कारण ?"

"राजनीतिक दल का उद्देश्य सत्ता प्राप्ति होता है। वह स्वार्थ, मक्कारी, झूठ से विमुक्त नहीं रह सकता। धर्म, नीति, प्रतिष्ठा, आश्वासन, विश्वास सब उनके लिए अर्थहीन शब्द हैं।"

"आप किसी सिद्धान्त के प्रति प्रतिबद्ध हैं ?"

"मतलब ?"

"किसी गुणात्मक अस्तित्व के प्रति।"

"अवश्य। उन सब गुणों के प्रति मेरी श्रद्धा है जो मानव को सुख, संपत्ति, स्वास्थ्य, सुरक्षा और सम्मान की ओर अग्रसर करते हैं। इन गुणों के प्रति मेरी प्रतिबद्धता है। कारण ये उसके जीवन को, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सुखी बनाते हैं। वास्तव में मैं मानव के प्रति, उसके सर्वसुख के प्रति प्रतिबद्ध हूँ, समर्पित हूँ।"

"विवाह के सबन्ध मे आपकी क्या राय है ?"

"मैं उसके विरुद्ध नही हूँ।"

"आपका गत जीवन कैसा रहा ?"

"संघर्षपूर्ण।"

"विशेष घटनाएं ?"

"जो बीत गया वह महत्त्वहीन है। मेरे लिए भी और दूसरों के लिए भी।"

"वर्तमान में आप क्या करती हैं ?"

"अध्यापन।"

"किस विषय का ?"

"काम और कला का।"

"विवाह मे दिलचस्पी रखती हैं ?"

"क्यों नहीं ?"

"कब तक प्रतीक्षा करेंगी ?"

"जब तक सक्षम और प्रकृति के अनुकूल साथी न मिले।"

"धर्म में आपकी आस्था है ?"

"अवश्य।"

"किस धर्म में ?"

"मानव धर्म में।"

"जैसे ?"

"जो जीवन-पद्धति उदारता से मानव को स्वभावतः सुख, समृद्धि, स्वास्थ्य और सम्मान की ओर अग्रसर करे वही मानव धर्म है।"

"कैसा जीवन आपको रुचिकर है ?

"काव्यात्मक अथवा कलात्मक गृहस्थी का जीवन।"

"क्या आप अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट हैं ?"

"निश्चय ही।"

"नारी के सुख की अनुकूल परिस्थिति क्या है ?"

"संवेदनशील उदार जीवन साथी का सहयोग और साथ।"

"धन्यवाद !" और इतना कहकर दिनेश ने अपने ध्वनि अंकन यंत्र को बन्द कर दिया। साथ ही वह बोला—

"अजय बाबू ! हम दोनों आपके कृतज्ञ हैं कि आपने हमें रतिप्रिया जैसी सुसंस्कृत नारी के साथ संलाप का अवसर दिया।" रतिप्रिया की ओर संकेत कर उसने कहा—"कष्ट और आतिथ्य के लिए हम आपसे क्षमा-प्रार्थी व कृतज्ञ हैं। उपस्थित समाज के भी हम क्षमा-प्रार्थी है कि उन्होंने उदारता से हमें हमारे कार्य में सहयोग दिया।"

"आज की गोष्ठी के लिए हम सब आपके एहसानमन्द हैं, दिनेश बाबू ! यह सही कहा है कि बुद्धिमान व्यक्तियों का समय काव्य और कला के विनोद में बीतता है। कामशास्त्र के विषय में आज अनेक बातें नई मालूम हुईं। सुश्री रतिप्रिया की वाणी ने उन्हें रसमय बना दिया।"

"और कहीं यदि यही कथा होती तो हम तो कभी के उठ के चले जाते। क्यों ठीक है न, पंडित जी ?"

"बिल्कुल ठीक। खाँ साहब कभी कुछ गलत कहते ही नहीं।" कमरे

में एक ठहाका हँसी का साथ ही गूँज उठा। मोहन चाय की सामग्री लिए ठीक इसी समय कमरे में प्रविष्ट हुआ। चाय के इस दौर में सब प्रसन्न हो पीने लगे। शेर, शायरी, गजल, गीत चलने लगे। मिठाई, नमकीन, चाय की बीच-बीच में सेवा चालू रही। समाज विसर्जित हुआ तब तक धूप छिपने लगी थी। रतिप्रिया और अजय बाबू सबको गली के द्वार तक छोड़ने आए। सबके चेहरों पर सजीव प्रसन्नता थी।

"प्रेरणा ! तुमने गीत के शब्द तो याद कर लिये, परन्तु गीत अभी तुम्हे नही आया।"

"क्यों, बहिन जी !"

"श्रीमती प्रभा ! क्या कसर है, इसमे ?" रतिप्रिया ने पूछा।

"शोभा ! तुम बताओ।"

शोभा बोली, "यह तो ठुमरी है न, बहिन जी ?"

"तुम जानो।" उत्तर रतिप्रिया का था।

"यह तो टप्पा है। प्रत्येक शब्द के साथ तान जो जुडी हुई है।"

"यह तो देश है। स्वर तो वैसे ही मालूम देते है।" श्रीमती प्रभा ने कहा। रतिप्रिया के चेहरे पर स्मिति छा गई। कुछ ही क्षणो मे कक्ष की अनेक किशोरियाँ व महिलाएँ उसके चारों ओर एकत्रित हो गईं। रतिप्रिया ने उन्हे संबोधित करते हुए कहा, "एक दिन पाठ को चूकने से यह सब गड़बड़ी होती है। मुझे बार-बार बताने मे आपत्ति नही है, पर इस तरह से अपन कभी भी आगे नही बढ़ सकते। आज एक को, कल वही दूसरी को, परसो वही तीसरी को। इस तरह यह सब कैसे चलेगा। तुम सब भी लड़कों की तरह 'प्रोक्सी' अथवा प्रतिनिधित्व से शिक्षा पाना चाहती हो। संगीत ऐसे नही सीखा जा सकता। यह मात्र सिद्धान्त ही नही है। अभ्यास, व्यवहार, प्रयोग से इसकी ससिद्धि होती है। इसलिए 'थियोरी' और 'प्रेक्टिस'; सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पर आपका ध्यान केन्द्रित रहना चाहिए। एक बात और है, और वह यह है कि, समय ही जीवन है। समय को बर्बाद करना जीवन को नष्ट करना है।"

रतिप्रिया के वक्तव्य को सुनकर उपस्थिति पर मौन छा गया। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद उसने कहा, "प्रेरणा ! तुमने गीत गाया? मात्र शब्द दोहरा दिए। गीत के भाव को, उसकी भावना को तुमने स्वीकार नहीं किया। गीत मे, और केवल गीत में ही क्यों, किसी भी ललित कला के व्यवहार में, जब तक हृदय, मस्तिष्क, वाणी, सब समन्वित होकर, एकरस होकर कार्य नहीं करते तब तक उसमे सजीवता नही आ सकती। सर्वत्र, सबमें जीवन एक होने के कारण ही हम सब एक दूसरे की बात और भावना को समझने में समर्थ हैं। इसलिए गाते समय मात्र शब्दों का पाठ न करो। उसमें सजीवता लाओ जिससे वह प्रभावशील बन सके।"

दूसरी को सबोधित करते हुए रतिप्रिया ने कहा—

"श्रीमती प्रभा ! मैंने एक दिन यही बताया था कि ठुमरी, गजल, टप्पा व राग आदि में क्या अन्तर है। शायद, या तो आप उस दिन यहाँ नही थी या आपने अच्छी तरह ध्यान नही दिया। सुसंस्कृत घरानो के लोग भी यदि ललित कलाओं के पारखी न होंगे तो न जाने कला और कलाकारों का क्या हाल होगा। ये ही तो उनके पनपने के स्थान हैं। खैर, अब भी आप सब अच्छी तरह से सुन लो। गजल उर्दू साहित्य की एक विधा है, साहित्यिक रूप है, जिसमे प्रेमी अपनी प्रेमिका से सलाप करता है, अपने हृदय की अभिव्यक्ति उसके प्रति करता है। यह गजल की पारंपरिक परिभाषा है। परन्तु, आधुनिक काल में गजल ने अपने क्षेत्र को बहुत व्यापक बना लिया है। आजकल मानव की, हर व्यक्ति की अनुभूति इसमे होने लगी है। ठुमरी हिन्दी साहित्य की एक शैली है, रूप है जिसमे प्रेमिका अपने प्रेमी के प्रति अपने भावो की अजलि अर्पण करती है। पुरुष और नारी के भाव-निवेदन मे जो अन्तर है यही गजल और ठुमरी की विशिष्टता मे अन्तर है। एक मे प्रखरता, तीव्रता, दर्द की सजगता होगी वहीं दूसरे मे मूक पीड़ा का निवेदन होगा। इस संक्षिप्त सार को ध्यान में रखने से दोनो के निर्माण और व्यावहारिक निवेदन में स्वतः अन्तर आ जायगा। हाँ, तो आ गया अब आपके समझ मे ?"

"जी।"

"इन्होने तो इसे देश कहा था। न ठुमरी न गजल।"

"अरी पगली! देश तो रागिनी का नाम है। राग-रागिनी का संबन्ध तो स्वरों से है। सात स्वरों सा. रे, ग, म, प, ध, नी, इनका व्यवहार आरोह-अवरोह मे कैसे होना चाहिए, कौन स्वर लगने चाहिए, कौन नही लगने चाहिए, प्रमुख और साधारण अन्य स्वरों की व्यवहृति किस प्रकार और किस मात्रा में होनी चाहिए इन सब बातों पर राग रागिनी का स्वरूप बनता है।"

"यह गीत देश नही है ?"

"फिर वही बात! गीत देश नही है। यह देश रागिनी में गाया गया है। प्रस्तुत रूप इसका देश का है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह किसी अन्य राग अथवा रागिनी में न गाया जा सकता हो। आरोह में 'ध' की वर्जना करके तीव्र 'नी' के साथ उठाकर अवरोह मे कोमल नी का प्रयोग सब स्वरो के साथ जो किया गया है वह निश्चय ही इसे देश का रूप देता है। पर, ठुमरी की गायकी मे अनेक बार रागिनी का रूप खडा करके कुशल गायक शास्त्रीय वर्जनाओं से बाधित नहीं रहता। वह अपनी प्रस्तुति को कर्णप्रिय, मनोहर, सुमधुर व भावानुकूल बनाने के लिए सप्त स्वरों का स्पर्श-प्रयोग करता रहता है। बनारस, लखनऊ, आगरा की अनेक विख्यात गायिकाएँ शास्त्रीय स्वर-वर्जनाओं से बहुत सुन्दर ढंग से छेड़ करती देखी गई हैं। ठुमरी में भी विभिन्न भावों का संप्रेषण, क्योंकि मुख्य होता है इसलिए आवश्यक भी है कि गायक कुशलता से सर्व साधनों की सहायता से उन्हे यथेच्छा प्रस्तुत करे। कुमारी शोभा! तुम शुरू करो, इस गीत को, उसी दिन की तरह।" कुछ ही क्षणों में शोभा के मधुर कंठ से गीत की शब्दावलि प्रवाहित होने लगी। शब्द थे—

"बदरिया बरस गई उस पार; साजन! आओ न!
प्रेम गगरिया रीती रह गई
खडी रही इस पार। बदरिया···पार,···आओ न!
सावन भादो गरजे बरसे,
कनक-कामिनी महलों तरसे;
कहाँ बसा तेरा प्यार। बदरिया बरस गई उस पार: साजन!

आओ न।"

गीत के शब्दों और कुमारी के सुमधुर कंठ-स्वरों ने कक्ष के वातावरण में बहुत शीघ्र वियोग के संवेदनशील वातावरण को प्रसारित कर दिया। विभिन्न प्रकार से शब्दों और स्वरों की व्यवहृति से एक कमनीय भाव की परिस्थिति सुलभ हो गई थी। अनेक बार अनेक रूपों में वे ही शब्द विभिन्न स्वरों में, भिन्न-भिन्न प्रस्तुति से वियोग के भावों-अनुभावों की सृष्टि रचने लगे। कुमारी शोभा अपनी प्रस्तुति में भावमग्न थी। रतिप्रिया की आँखें स्वतः बन्द हो गईं। जब भी वह अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति में लौटी उसने देखा कि श्रीमती प्रभा और अन्य महिलाएँ किन्हीं दूर महलों के वातावरण में अपनी-अपनी आँखें बन्द किए हुए विचरण कर रही हैं। प्रेरणा का ध्यान सर्व समय कुमारी शोभा के चेहरे व उसकी प्रस्तुति पर था। शोभा के चेहरे की मुद्राएँ स्वरों और शब्दों की व्यवहृति के साथ विभिन्न कमनीय भावों-अनुभावों में प्रति पल परिवर्तित होती जाती थी। दर्शक और श्रोता के लिए उसके भाव स्पष्ट और सुखकर थे; प्रभावशील थे।

ज्यों ही शोभा ने अपने ठुमरी निवेदन को समाप्त किया सब ओर से प्रशंसा के शब्दों की उस पर बौछार होने लगी। सब के पूर्ववत् आश्वस्त होने पर रतिप्रिया ने कहा—

"देखा प्रेरणा! निरन्तर साधना से ही ऐसे सामंजस्य व प्रभाव की उत्पत्ति होती है। जब मन, वाणी, हृदय एक साथ, एक होकर कार्य करते हैं तभी कला का निर्माण होता है। प्रस्तुति, प्रदर्शन के लिए यह सब आवश्यक है। इसी से काव्यानुभूति होती है। जहाँ शब्द, अर्थ, परस्पर मे सहयोगी और सार्थक होकर एक रमणीयता की सृष्टि रचते हैं वही काव्य का जन्म होता है। ऐसे ही काव्य से रस की धारा प्रवाहित होती है। ऐसा ही काव्य रसानुभूति का स्रोत होता है। ऐसे ही काव्य से मानव का उन्नयन, उत्सादन, उदात्तीकरण हुआ है व होता है। क्योंकि एक व्यक्ति संसार के सब सुखों की, सर्वत्र, सर्व समय, सबसे संपृक्त होकर अपनी सब अवस्थाओं मे सुखानुभूति, रसानुभूति, कामानुभूति शारीरिक रूप से नही कर सकता इसलिए काव्य-कला ही एक पर्याय है, एक

सशक्त व सुलभ विकल्प है जो जीवन में उसके वांछित सब सुखों का स्थान ले सकता है। इसीलिए काव्य की सबसे अधिक महत्ता है। इसीलिए वह ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान रखता है।"

इतना कहकर रतिप्रिया मौन हो गई। कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद उसने सुना—

"बहिन जी! ललित कलाओं में कौन-कौन-सी कलाएँ सम्मिलित हैं?"

"आपके इस समाज मे मुझे एक ही शिकायत आप लोगों से बार-बार करनी पडती है। इस विषय की चर्चा भी मैंने थोड़े ही दिन पहले की थी। दुबारा चर्चा न करना भी आप कुछ के लिए अच्छा नही होगा। साथ ही एक ही बात को बार-बार कहने मे मुझे भी अच्छा नही लगता और आप में से अनेक का समय भी फिजूल खर्च होता है। आप लोगों मे से जो जिस दिन न आये उसे चाहिए कि वह उस दिन की चर्चा की सूचना, उसके विषय की बातें अपनी दूसरी साथिन से समझ ले, सीख ले। उसके बाद भी यदि कोई शंका रह जाय तो मुझ से पूछने में हिचक नहीं करनी चाहिए। खैर! यह सब तो चलता रहेगा। आपने पूछा कि ललित कलाओं में कौन-कौन-सी कलाएं सम्मिलित हैं। क्यों?"

"जी।"

"सर्व प्रथम वास्तुकला। ईंट, चूना, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, लोहे के योग से जो कला निर्मित होती है वह वास्तुकला है। भवन, मन्दिर, मस्जिद आदि निर्माण इस कला में सम्मिलित हैं। इन उपादानों में से किसी एक का आधार लेकर जब कलाकार अपनी अभिव्यक्ति करता है, वह मूर्तिकला का निर्माण करता है। जब स्वरों की ध्वनि से अभिव्यक्ति हो तब संगीत कला जन्म लेती है। शब्दों के माध्यम से साहित्य का उद्‌भव है। जब शब्द, अर्थ, रमणीयता संयोजित होकर एक रसमय संसार की सृष्टि रचते हैं तब काव्य, काव्य-कला मूर्तिमान अथवा साकार होती है।"

"बहुत से मन्दिर तो कला को बदनाम करते हैं, बहिन जी।" शब्द माया नाम की एक नवयुवती के थे।

"जैसे?"

"काशी का नेपाली मन्दिर, मध्य भारत के खजुराहो, उड़ीसा में कोणार्क और जगन्नाथजी का मन्दिर।"

"तुमने ये देखे हैं ?"

"अवश्य, बहिन जी ! अभी थोड़े दिन पहले ही मैं इन स्थानों पर होकर आई हूँ।"

"मैं भी इन स्थानों पर गई हूँ। माँ-बाप, बुजुर्गों और बच्चों के साथ तो इनमें से बहुतों को देखा भी नहीं जा सकता। सारा अश्लील ही, जैसे इनमें साकार रूप में उत्कीर्ण कर दिया गया है।" वाणी किसी अन्य शिक्षार्थिनी की थी।

"और कुछ ?"

"एक सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए तो शब्दों में उनका जिक्र करना, उनका वर्णन देना असंभव है।"

"और कुछ ?"

"आप क्या कहती हैं ?"

"मेरे विचार आपसे भिन्न हैं।"

"कैसे ? आपने इन मन्दिरों को देखा है ?"

"अनेक बार और इनमें से एक को नहीं, सभी को।"

"आपकी क्या राय है ?"

"कुछ इतिहास और कुछ ऐतिहासिक परिवर्तन को जानने की इसमें आवश्यकता है।"

"जैसे ?"

"मैं अनेक बार इसी कक्ष में यह कह चुकी हूं कि भारतीय सभ्यता में जीवन के उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रहे हैं।"

"अवश्य।"

"धर्म से तात्पर्य एक भारतीय की दैनिक जीवनी से था अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त में सोकर उठ जाना, नित्य नैमित्तिक कर्मों से निपटकर स्नान-पूजा आदि में संलग्न होना, फिर अध्ययन, भोजन आदि। उसके बाद सबके लिए व्यवस्था थी कि अपने-अपने वर्ण के अनुसार अपने व्यवसाय में लगना। अध्ययन अध्यापन से जो दक्षिणा मिल जाय उससे

ब्राह्मण को संतुष्ट रहना पड़ता था। देश, जाति, धर्म और समाज की सुरक्षात्मक सेवा से कर आदि की प्राप्ति का क्षत्रिय का अधिकार था। कृषि व व्यवसाय से वैश्य अपना पालन करता था। श्रम के पारिश्रमिक से शुद्र अपना गुजारा चलाते थे। सैद्धांतिक रूप से यह भारतीय समाज के लिए धार्मिक व्यवस्था थी। इसे वर्णव्यवस्था के नाम से आज तक जाना जाता है। अपने वर्ण के अनुकूल कार्य करना, उससे अर्थ अर्जन करना, धर्म था। इस प्रकार उपार्जित धन से काम की तृप्ति धार्मिक उद्देश्यों में से एक था। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति से एक भारतीय की सारी इच्छाएं, सारी कामनाए स्वतः धार्मिक रहते हुए पूरी हो जाती थी। जीवन मे यदि कामनाओं का, इच्छाओ का, वासनाओं का अन्त आ गया तो मानव मोक्ष प्राप्त कर लेता था। यदि उनका अन्त नहीं हुआ और फिर सब कुछ भोगने के बाद भी भोगों में वासना बनी रही तो भी धार्मिक जीवन जीने के कारण उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती थी। एक धर्म प्राण व्यक्ति के लिए धर्म व्यवस्थित जीवन जीते मोक्ष अथवा स्वर्ग की प्राप्ति वरदान रूप मे निश्चित थी। इतने वक्तव्य से तो आप को आपत्ति नही है ?"

"जी नहीं।"

"स्वर्ग में क्या है ?"

"नाना प्रकार के भोग।"

"वांछित भोग। धर्म व्यवस्थित जीवन की परिणति वांछित सुखमय भोग मे थी। क्यों ?"

"जी।"

"देवताओ के साथ निवास, उनके जैसा सौन्दर्यमय अभावरहित सौम्य जीवन, अक्षय यौवना अप्सराओ की सेवा, नाना प्रकार के खान-पान, सवारी, वस्त्र, आभूषण आदि का बाहुल्य। रस, रूप, गन्ध की वांछित तृप्ति !"

"भोगो मे सब आ गए।"

"बिल्कुल ठीक है। अब आगे चलिए। आर्यों का आदि देव कौन है ?"

"महादेव। शिव।"

"सबसे बड़ा देव; सबसे अधिक कल्याणकारी : जन्म और मृत्यु का नियन्ता। क्यों ?"

"अवश्य।"

"और उस देव की पूजा का प्रतीक क्या ? क्यों ? ···उस चिह्न की ही पूजा क्यों ? ···इस विषय में आज हम सब चुप इसलिए हैं कि तब से अब तक हमारा सामाजिक जीवन अनेक परिवर्तनों में से गुजर चुका है। पर आज भी हम सब मन्दिरों में जाकर इस प्रतीक की पूजा करते हैं। देश में सर्वत्र शिव मन्दिरों की भरमार है और सब वर्गों के लोग, स्त्री, पुरुष, बच्चे, वृद्ध, ज्ञानी, वैरागी, शिक्षित, अशिक्षित, सन्यासी कतारों में खड़े होकर इस चिह्न की, इस प्रतीक की पूजा-अर्चना करते हैं. धूप, दीप, चन्दन, केसर, पुष्प, प्रसाद अर्पण करते हैं। हिन्दुओं के चारो धामों में एक धाम रामेश्वरम् भी है जिसकी यात्रा किए बिना एक सनातनधर्मी हिन्दू आर्य की जीवन-यात्रा सफल नहीं होती। क्यों ?"

"आप कहिए।"

"आप अपने को अपनी सस्कृति की जड़ों से न काटिये। देश, धर्म और जाति की संस्कृतियां सहस्रों वर्षों में क्रम विकास के सिद्धान्तों पर निर्मित व विकसित होती हैं। इतिहास में एक युग हमारा ऐसा था जब काम, उसकी चेष्टाएं हमारे लिए अश्लील नही थीं, बल्कि, धार्मिक थीं। उस युग में काम हमारे जीवन का एक उद्देश्य बना। वृहदारण्यक जैसे उपनिषद् ने काम सुख की तुलना ईश्वर प्राप्ति के सुख से की। उससे बढ़कर और किसी अन्य सुख को नहीं माना। किसी भी दिशा में हमारा विकास धर्म-हीनता से नही हुआ। काम-सूत्र की रचना के पूर्व और बाद में भी हम काम को, उसकी तृप्ति को मोक्ष और स्वर्ग के लिए एक धार्मिक साधन मानते रहे। उस युग में काम स्वतंत्र था। उसके समुचित भोग-उपभोग में बाधा नही थी। विवाह के पूर्व व्यक्ति के जीवन में काम-अनुभूति स्वीकार्य थी। वैवाहिक जीवन मे, उसके बाद भी स्वतंत्र काम की जीवनी को नही अस्वीकारा गया। सामाजिक जीवन मे संभ्रान्त बनने के लिए, प्रतिष्ठित बनने के लिए, नायक बनने के लिए व्यक्ति के

लिए यह आवश्यक था कि वह वर्ण धर्म द्वारा अर्जित सपत्ति से जल स्रोत के सहारे एक सुन्दर भवन का निर्माण करे जिसमे दो शयन-कक्ष हों, एक बाह्य-कक्ष हो जो शयन-कक्षो से कुछ दूर हो। वह बाह्य-कक्ष सुवासित फूलों की क्यारियों से परिवेष्टित होना चाहिए और इनके आस-पास छायादार वृक्षों के नीचे अनेक पालतू गृहपक्षी पिंजरो में सज्जित होने चाहिए। ···सांझ होने पर संगीत और उसके बाद एक सपन्न नागरिक प्रेमिकाओं की प्रतीक्षा करता था अथवा दूतियो से बुलवाता था। इस प्रकार का रस्यात्मक वर्णन हमें कामसूत्र में मिलता है।"

"कामसूत्र का आधार क्या है?"

"कुछ पता नही। भारत मे सब ज्ञान आदि देवों से अवतरित हुआ है, ऐसी मान्यता है। ब्रह्मा या शिव—ये ही दो देव है जिन्होने ज्ञान की धारा प्रवाहित की। समस्त वैदिक साहित्य ने उन्ही को अपना आदि स्रोत स्वीकार किया है। उसी परंपरा के अनुसार अर्द्धनारीश्वर जब अपनी शक्ति महामाया से विभक्त होकर अलग हुए तो उनमें कामेच्छा प्रकट हुई। इस कामेच्छा की उन्होंने इतनी पूर्ति की कि उस वर्णन पर दस सहस्र और अनेको के कथनानुसार शतसहस्र ग्रन्थ निर्मित हुए। इस कामेच्छा का सक्षेपीकरण शिव के सेवक नंदी ने एक सहस्र ग्रन्थो मे किया। आगे परंपरा कहती है कि दत्तक नाम के एक पुरुष को शिव ने शाप देकर नारी मे परिवर्तित कर दिया। कारण, उसने उनके एक यज्ञ को दूषित कर दिया था। शाप से मुक्ति पाने के बाद यह दत्तक जब पुनः पुरुष बना तो उसे नारी की समस्त काम चेतनाओं का ज्ञान था। अपने स्वामी शिव को प्रसन्न करने के लिए उसने काम पर अनेक ग्रन्थ लिखे। बाभ्रव्य पांचाल ने मुख्य सपादक की हैसियत से इन्ही ग्रन्थो का एक विश्व-कोष तैयार करवाया। इस कोष की प्रस्तावना चारायण ने लिखी। विशिष्ट काम अथवा मैथुन पर सुवर्णनाभ ने लिखा। घोटकमुख ने कुमारियों के साथ विवाह पूर्व काम प्रयासों का वर्णन किया। गणिका पुत्र ने नारी-प्रलोभन पर अध्याय लिखे। वेश्याओ पर दत्तक ने अपनी कलम चलाई। कुचुमार ने औषध शास्त्र पर प्रकाश डाला। यह यह भूमिका थी, पूर्व संदर्भ था जिस पर वात्स्यायन ने, जो मल्लनाग के नाम से पहले प्रख्यात

था, अपने कामसूत्र की सृष्टि रची।"

इतना वक्तव्य देने के बाद अपनी स्मृति को नियोजित करने के लिए रतिप्रिया कुछ क्षण के लिए मौन हो गई। प्रश्न के सूत्र को पकड़ते हुए उसने कहा—

"इस संदर्भ और ऐसी ही समस्त कथाओं का तात्पर्य इतना ही है कि काम-शक्ति मनुष्य में हजारों बल्कि लाखों रूपों में प्रस्फुटित होती है और इसका दमन सहस्रों विकारों की जड़ है। इस ऊर्जस्व का निकास-मार्ग अवश्यभावी है। यदि इसे सुनियोजित, सुनिर्देशित न किया जाय तो यह भयंकर और विनाशकारी घटनाओं में जीवन में विस्फोटित हो सकता है और होता है। सामाजिक प्रगति के साथ-साथ जब स्वतंत्र काम-तृप्ति में बाधा आई तो यही शक्ति धर्म के रूप में मन्दिरों में प्रस्फुटित हुई, विभिन्न तांत्रिक पूजाओं में इसका समावेश हुआ। बौद्ध काल में अनेक तांत्रिक सम्प्रदाय ऐसे बने जो गुप्त रह कर विशिष्ट काम, मैथुन को अपनी पूजा का अनुष्ठान व धर्म-प्रक्रिया स्वीकारते थे। कब, क्या, कैसे प्रारंभ हुआ व चला कोई नहीं जानता। परन्तु, ऐसा मालूम होता है कि आचार-संहिता के बदलते हुए आयामों ने दमित वर्ग को काम-शक्ति के संदर्भ में नये सिद्धान्तों का आश्रय खोजना पड़ा और उनकी प्रवृत्ति धार्मिक सिद्धान्तों के सहारे से धर्म प्रक्रियाओं में संचालित व संचरित हुई है। रहस्य पूजा के प्रत्येक संस्कार में वाममार्गी तांत्रिक 'शिवोहम्' का जाप, इसीलिए करता है। 'मैथुनेन महायोगी मम तुल्यो न संशयः' का सहारा लेकर उसने विशिष्ट काम को अपनी धार्मिक प्रक्रिया का अंग बनाया। विभिन्न देवालयों पर काम की यह अभिव्यक्ति इसी दमन की प्रतिक्रिया है। वाममार्गी तांत्रिकों का यह सिद्धांत था कि वे संपूर्ण परित्याग के साथ काम-शक्ति का स्वच्छन्द उपयोग करते हैं। परित्याग और भोग की एकात्म स्थिति तांत्रिकों की मोक्ष स्थिति थी जो पुनः-पुनः संसार में आवागमन का अन्त कर देती थी। आग और घी जैसे पदार्थों को साथ-साथ रख कर, काम की आगार नारी को साथ अपनी पूजा में प्रवृत्त होना, विरक्ति की साधना को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाना उसका लक्ष्य था। काम जैसे विकटतम प्रलोभन से विरक्ति पाने के बाद

ससार का कोई भी प्रलोभन मानव को उसके लक्ष्य से नही गिरा सकता। इस एक प्रलोभन पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद उसके लिए कोई कामना, इच्छा ऐसी नही रह जाती थी जो उसको कर्त्तव्यच्युत कर सके। इसी मोक्ष प्राप्ति के सिद्धांत को सहारा बना वाममार्गियो ने अपने मुक्ति मार्ग के महल को खड़ा किया था। परन्तु, संपत्ति, धन, अधिकार, सुरक्षा की शक्तियो ने समाज मे इस कष्टसाध्य निष्ठा को मान्यता नही दी और कुछ समय तक एक धार्मिक सप्रदाय के रूप में चलने के बाद इसका अन्त आ गया। सदाचार, नीति, वैष्णव पूजा ने जब शक्ति सगठित की तो वाममार्गियो का यह धर्म किताबों और मन्दिरो पर की संपत्ति मात्र रह गया। एक समय के इतिहास के रूप मे, उस समय की संस्कृति और विचारधारा के रूप मे आज भी खजुराहो, कोणार्क, नेपाली मन्दिर, जगन्नाथजी के मन्दिर के बाह्य भाग की उत्कीर्ण मूर्तियां मौजूद हैं। परन्तु, ये अवशेष हैं। किसी भी प्रकार की प्रगति मे जो सहायक नही होता वह स्वतः प्रकृतितः नष्ट हो जाता है। यह वह भूत है जो कभी था। हमारी संस्कृति की, उसके प्रवाह की यह भी एक मंजिल थी। वर्तमान से, उसकी सास्कृतिक धारा से आज उसका कोई सम्बन्ध नही है।

"परन्तु रत्यात्मक, कामात्मक प्रवृत्ति प्राणियो में अमर है। शिव मन्दिरों का स्थान नव-निर्माण मे विष्णु मन्दिरो ने लिया। जैन मन्दिर भी प्रतिष्ठित हुए। मूल प्रकृति का उदात्तीकरण, उत्पादन हुआ। नए मन्दिरो पर स्वर्ग के देवी-देवता, अप्सरा अवतीर्ण हुए। धार्मिक जीवन का प्रतिफल स्वर्गीय जीवन में प्राप्त होता था। इसी की उत्पादित झाकी विभिन्न मन्दिरो पर उत्खनित हुई। अजन्ता, एलोरा, एलीफेन्टा व भीम की गुफाओ मे भित्तिचित्रों का निर्माण हुआ जिनमें प्रेरणादायक सौन्दर्यमयी तरुणियां चित्रित की गई। आकर्षक केशविन्यास, कामुक सन्देश वाहक नयन-दृष्टि, उन्नत गोल उरोज, लम्बी ग्रीवा, पतली कमर, सुस्थित नाभि, सुगठित नितम्ब, आकर्षक रूप से नारी के आकर्षण-केन्द्र-स्थलों के रूपो में चित्रित किए गए। विकास क्रम अग्रसर हुआ। शिल्प की परंपरा चित्रों में, मूर्तियो में, कविता मे, काव्य में अवतरित हुई। आज

क्योंकि कभी मिट नही सकती ।' इसलिए आज भी अनेक चित्रो और ताश के पत्तों पर यह काम-क्रीडा प्रदर्शित होती देखी गई है। यदि अखबारों की घटनाएँ सत्य मानी जायँ तो यह भी वर्णन आया है कि यूरोप में वर्तमान काल में विशिष्ट काम-क्रीडा को दर्शको के सामने रंग-मंच पर क्रियान्वित किया गया। जीवन की यह मूल ऊर्जा; शक्ति— कभी भी कही क्या रूप ले ले कोई कुछ नहीं कह सकता । ललित कलाओं के सेवन से इस ऊर्जा को नियमित, व्यवस्थित व नियन्त्रित हमारी इस सभ्यता के युग में किये जाने के प्रयास किए गए है । हर संभव सौन्दर्य को मर्यादित रूप मे प्रकट करने से कला की सृष्टि का निर्माण होता है और उसी के सेवन से व्यक्ति में उत्पादन की प्रकिया प्रारम्भ होती है। व्यक्ति और समाज दोनो के लिए यह श्रेयस्कर है। गीत, नृत्य, वादन, चित्र, कविता, काव्य सब मे इस मर्यादा को रमणीयता के साथ स्थापित किया जा सकता है।"

ज्योंही रतिप्रिया अपना वक्तव्य देते-देते मौन हुई श्रीमती प्रभा ने प्रश्न किया, "बहिन जी ! शिव की पूजा का स्थान किस देव की पूजा ने लिया ?"

"स्थान नही लिया श्रीमती जी ! सांस्कृतिक युग का परिवर्तन राम और कृष्ण के युग मे, उनकी पूजाओं की धाराओ में प्रवाहित हुआ। श्री राम के कुल गुरु ऋषि वशिष्ट आर्य संस्कृति में नैतिकता के प्रबल समर्थक थे। रामायण मे सीता के त्याग की कथा इसी युग में स्थापित नैतिक मूल्यो की कथा है। यह इन्ही मूल्यो का प्रभाव था जिसने एक साधारण नागरिक के लाछन भरे एतराज पर राम जैसे राजा को अपनी धर्म-पत्नी सीता को त्यागने के लिए विवश होना पडा। परन्तु, हम बौद्धिक दृष्टि से यदि तथ्यों का काम-शक्ति के संदर्भ से परीक्षण करें तो रामायण में ही हमें ऐसे स्थल मिल जायेंगे जहाँ हम इसका विस्फोट देखते हैं।"

"जैसे ?"

"भरत की सेनाएँ जब निर्वासित राम को अयोध्या में वापिस लाने के लिए जगलों में पहुँची तो वहाँ के एक पवित्र ऋषि ने उनका अपने आश्रम के समीप स्वागत किया। कैसे ?...'इन्द्र के स्वर्ग से उसने सारी

अप्सराओं को पृथ्वी पर अपने आश्रम मे बुला लिया। दूसरे स्वर्गों से भी उसने स्वर्गीय ललनाओं को आमन्त्रित किया। बीस हजार अप्रतिम सौन्दर्यमयी तरुणियाँ ब्रह्मा ने भेजीं। बीस-बीस हजार कुबेर और इन्द्र की तरफ से वहाँ पहुंचा दी गयी। ऋषि ने अपने योगबल से जगल की समस्त बेलो, लताओं को भी सुन्दर रमणियों मे परिवर्तित कर दिया। प्रत्येक सैनिक की सेवा में सात-सात, आठ-आठ सम्मोहिनी युवतियो को नियुक्त कर दिया। ···यह वर्णन क्या है ? ···श्री कृष्ण की रास-लीलाओ और रास-क्रीड़ाओं से उनके सौन्दर्य प्रेम से उनकी रत्यात्मक प्रवृत्तियो से हमारा सारा काव्य ओत-प्रोत व अनुप्राणित है।···क्यों ? ···सोचो श्रीमती प्रभा ! यह सब इसलिए ही कि काम सार्वजनीन व सर्वकालीन है।···नारी के लिए सिर्फ एक बात समझने व याद रखने की है।"

"वह क्या ?"

"यही कि पुरुषो का सारा साहित्य, सारा काव्य, सारी कला सिर्फ एक तथ्य की ओर एक सत्य की ओर संकेत करती है कि नारी, उसका रमणीरूप पुरुष के लिए कितना महत्वपूर्ण है।···किसी भी सदाचार, नैतिक धर्म के दबाव में जब भी वह उस रूप से बिलग होने की कोशिश करता है सैकड़ों, सहस्रों, सहस्र-सहस्रों रूपों में उसकी विवशता उसके सामने आती है। खजुराहो में एक मूर्ति ऐसी भी है जहाँ एक पुरुष अपनी इसी काम-पीडा की प्रवृत्ति के प्रकटीकरण मे अपनी प्रेमिका के लिए सिर के बल शीर्षासन मे खडा है।···क्यों ?···यह सब क्यों ?···इसीलिये कि नारी महान है। पुरुष के लिए तो महानतम। अजेय है। अपराजेय। जब इस सत्य को समझ कर वह जीवन में व्यवहार करती है तो उसकी विजय को, उसकी सर्वविजय को कोई भी नहीं रोक सकता। बस।"

रतिप्रिया ने अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया था। अपेक्षित चाय की सेवा प्रस्तुत हुई। उसकी समाप्ति के क्षणों में रतिप्रिया अपनी प्रतीक्षा में खड़ी मोटर पर बैठकर अपने निवास को चल दी। वहाँ मोहन, अजय बाबू उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

रतिप्रिया से संपृक्त अजय, मोहन और उसकी माँ का जीवन उसी के घर मे एक परिवार के रूप मे चलता रहा और एक दिन बसन्त पचमी आ गई। सूर्य की रश्मियो ने पृथ्वी का चुम्बन किया उसके पहले ही घर के लोग जाग कर अपने-अपने कार्य मे व्यस्त हो चुके थे। अजय रात तक जिस चित्र को बना रहा था उसे वह अपने आखिरी स्पर्श देने मे लग गया था। मोहन अपनी पुस्तको मे व्यस्त था। उसकी माँ घर की सफाई मे लगी थी। गत शाम को ही उसने अपने आज के वस्त्रो का चयन कर लिया था। वासन्ती रंग की साड़ी व शाल में सजी आज वह अपने कमरे से बाहर निकली। उसकी पूजा की स्थालिका मे भी वासन्ती रग के पीले फूल व उपक्रम थे। अपने जूडे में भी उसने पीले फीते व पुष्पो का उपयोग किया था। स्थालिका आवरण वस्त्र भी उसी रंग का था। माथे की बिन्दिया केसर की थी और उसी से मेल खाते उसके कानो के कर्णफूल और गले की पतली-सी जंजीर थी। ज्योंही उसके पदचापों की ध्वनि मोहन ने सुनी वह कमरे से बाहर आ गया। क्षण भर के लिए उसकी दृष्टि रतिप्रिया की सौन्दर्यश्री पर स्थापित रह गई। रतिप्रिया की सहज स्वाभाविक स्मिति ने उसे और भी अधिक विमोहित कर दिया। वह उसकी दृष्टि का सामना न कर सका। उसकी आँखे झुक गईं। उसने पूछा—

"कोई काम है, मोहन ?"

"नही तो।"

'पढ़ रहे थे ?"

"जी।"

"फिर पढ़ो।"

"मैं साथ चलूँ, बहिन जी ?"

"नहीं।"

"पूजा का सामान पकड़ लूँगा।"

"क्या इतना भी मैं नहीं ले जा सकती ? और फिर यह तो मेरी पूजा है। सारी सेवा का श्रेय, फल, आनन्द मुझे ही लेना चाहिये। तुम अपना काम करो। अजय बाबू की आवाज का ध्यान रखना। आजकल कुछ चिन्तित-से रहते हैं। खैर! समझ गए।"

"जी।"

अजय बाबू के सम्बन्ध में अपनी व्यवस्था से आश्वस्त हो वह सरस्वती के मन्दिर की ओर चल दी। वहाँ पहुँची तो देखा कि पूर्ण वासन्ती वातावरण में माँ सरस्वती की मूर्ति आज सज्जित है। उसकी सज्जा, स्वरूप, स्मिति, सौन्दर्य सब वसन्त के प्रमोदमय वातावरण में आज उसे सुसज्जित मालूम दिए। मुख्य मन्दिर के आगे के विशाल कक्ष में सुमधुर संगीत चल रहा था। उसने सुना—

"आयो ऋतुराज आज !

बेला चमेली गुलाब,

चटकत कलि, गमक सुमन,

कमलिन विकसित सरोज,

मनहर प्रकृति लखात, आयो ऋतुराज आज।"

रतिप्रिया सुमधुर मधे कंठ से निकले गायक के संगीत का कुछ क्षण एक ओर कक्ष में बैठ कर आनन्द लेती रही। ज्योंही गायक ने अपना निवेदन समाप्त किया, वह अपनी जगह से उठी व मूर्ति के आगे जाकर उसने अपनी पूजा की स्थालिका को मन्दिर के पुजारी को पकड़ा दिया। अपने ध्यान में लीन हो वह घुटनों के बल बैठ गई और मौन रूप से अपना मानसिक भाव-अर्पण निवेदित किया। उसके लाए धूप, दीप, कपूर, प्रसाद, सुमन, वस्त्र पुजारी ने यथाविधि देवी माँ सरस्वती के समर्पित कर दिये। स्थालिका में लौटाई सामग्री देवी का प्रसाद थी जो भक्तों के

स्वतन्त्र उपयोग के लिए थी। रतिप्रिया ने आदर व भक्ति के साथ उसे स्वीकार कर लिया। वह पुजारी की उपस्थिति से अभी चली भी नहीं थी कि उसने सुना—

"देवी जी ! आज तो आप भी कुछ माँ को सुनाइये।"

रतिप्रिया कुछ उत्तर देती उसके पहले ही अनेक व्यक्तियों ने उसको कुछ माँ के समक्ष निवेदन करने का अनुनय-विनय करना शुरू कर दिया। इससे वह एक अजीब परिस्थिति में घिर गई। बहस, मिथ्या अभिमान उसके स्वभाव के विरुद्ध था। यह कहना उसके लिये सम्भव नहीं था कि वह संगीत से परिचित नहीं है। अनेक अवसरों पर पुजारी ने व उपस्थित-वृन्द में से अनेक व्यक्तियों ने उसको इसी कक्ष में अपने मन्द स्वरों में अकेले में प्रार्थना करते सुना था। सबके अनुनय-विनय पर उसके चेहरे पर एक निश्चिति की मुद्रा अवस्थित हो गई। बिना किसी संकोच के मूर्ति के आगे मुँह करके अपने लिए उचित स्थान पर वह बैठ गई। ज्योंही कक्ष में अपेक्षित शान्त मौन की स्थिति आई उसके सुमधुर कंठ से निम्न शब्द प्रसारित हुए—

"वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वती परमेश्वरौ ॥१॥
शुक्लां ब्रह्म विचार सार परमाम्,
आद्यां जगत् व्यापिनीम्
वीणा पुस्तक धारिणीम् अभयदाम्
जाड्यान्धकारापहान्
हस्ते स्फटिक मालिकाम् विदधतीम्
पद्मासने संस्थिताम्
वन्दे ताम् परमेश्वरीम् भगवतीम्
बुद्धिप्रदाम् शारदाम् ॥२॥

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं, स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः, सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥३॥
पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन, मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद् द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु ॥४॥

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखा
विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु,
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥५॥
रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः
पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः
मत्तालियूथविरुतं, निशि सीधु पानं
सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥६॥
मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः
विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ताद्—
भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ॥७॥"

रतिप्रिया ने आखिरी श्लोक की समाप्ति के साथ ही सिर झुका कर प्रणाम की मुद्रा में अपनी प्रस्तुति समाप्त कर दी। उपस्थित समाज की करतल-ध्वनि से विशाल कक्ष गूँज उठा। आज इस सभा-भवन में पं० विद्याधर शास्त्री जैसे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान बैठे थे। जिस शुद्ध उच्चारण और महाकवि कालिदास की काव्यमयी भावना से अनुप्राणित होकर रतिप्रिया ने अपना गान प्रस्तुत किया था वह विद्वान और पारखी जनों के लिये एक विशेष प्रसन्नता का अवसर था। अपनी प्रस्तुति अथवा प्रदर्शन में जिन मर्यादित सीमाओं का सहारा रतिप्रिया ने लिया था उससे उसकी समाज में निष्ठा स्पष्ट रूप से झलकती थी। अपनी कृतज्ञता के रूप में पुजारी ने माँ सरस्वती की मूर्ति की कंठमाला उतार कर रतिप्रिया को अर्पण कर दी। गायक व वादक-मंडली के उपस्थित कलाकारों ने पुष्प-पंखुड़ियाँ व गुलाल का सुवासमय चूर्ण उस पर न्योछावर किया। रतिप्रिया ने अपनी प्रशंसा में पुलकित उपस्थिति से उठ कर हाथ जोड़ कर विदाई चाही। कक्ष के बाह्य द्वार से ज्योंही वह बरामदे में आई, उसने देखा कि अजय बाबू दीवार के सहारे बैठे एक व्यक्ति से बातचीत कर रहे हैं। एक क्षण के लिए उनका दृष्टि-मिलन हुआ और वह समझ गई कि उन्हें यहाँ देरी लगेगी। कुछ क्षण के लिए उपस्थित-

समाज की दृष्टि, रतिप्रिया के जाने के बाद, अजय पर स्थापित हो गई। समाज की इस दृष्टि में अजय के प्रति सम्मान था, प्रशंसा थी, शायद ईर्ष्या भी। किसी भाग्यशाली से कम आज अभी वह अपने-आपको गौरवशाली नहीं समझता था। कुछ ही क्षणों मे उसका ध्यान उपस्थिति के विशिष्ट समाज की ओर आकर्षित हुआ। संवादों के रूप मे विचार विमर्श हो रहा था। उसने सुना—

"भारतीय संस्कृति, उसकी कला, धर्म, काव्य के रूप—सब प्रतीकों में साकार हुए हैं।"

"जैसे ?"

"उनके उद्बोधक स्वरूप को भारतीय ऋषियों ने, मनीषियों ने देवी सरस्वती की प्रतिमा के रूप मे साकार किया है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि किसी देव के हाथ में उन्होंने वीणा, पुस्तक, माला एक साथ नही दी। हमारी संस्कृति के अनुसार इन कलाओं की संरक्षिका एक नारी ही हो सकती है। वह नारी जो स्वच्छ, गौरवर्ण हो, हिम जैसी *महाश्वेता—शुभ्र वस्त्रों से आवृत*...*हाथों मे सुन्दर* साज लिए हुए हो, जिसकी उपस्थिति किसी के लिए भयावह न हो, जो सबकी शुभेच्छु हो, जो सही शिक्षा दे सकती हो। रतिरूपा होते हुए भी जो पाशविक प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण, उन्नयन कर सकती हो, उत्पादक, पालक, विनाशक शक्तियों को जो अपने वश में रख सकती हो; ऐसी सौम्य, शान्त, अलिप्त मूर्ति में ही ज्ञान और कला का आवास हो सकता है, और फिर भारतीय ही क्यों ? प्राचीन इतर सभ्यता के चिन्तकों ने भी इसी सत्य को अपनाया है। ग्रीस की देवी एथीना, रोम की देवी मिनर्वा इसी देवी सरस्वती के संक्षिप्त व परिवर्तित रूप हैं। आज इस नारी ने इस वसन्त समारोह को जिस तरह अपने रूप, सौन्दर्य व कला-व्यवहृति से सुशोभित व अनुप्राणित किया है वैसी घटना हमारी स्मृति में नही है। क्यों ?"

"निश्चय ही। वह स्वयं देवी सरस्वती के आदर्श रूप का आभास देती थी।"

"आपने देखा नहीं कि वह अपनी प्रस्तुति में कितनी संयत, कितनी शान्त थी ? दूसरे कलाकारों को भी हमने देखा। कोई पूरे शब्द नहीं

बोलते थे। कई स्वरों की उछल-कूद में व्यस्त थे; कइयों ने कला को शारीरिक कलाबाजी मे ही परिवर्तित कर दिया था। उनकी प्रस्तुति में उसका वातावरण, उसका वर्णन, उसकी अनुभूति गायब थी। स्वरों की सुमधुरता लोप हो गई थी। किसी भाव की तृप्ति, उसका संप्रेषण उनकी प्रस्तुति मे नही था। दोनों का अन्तर स्पष्ट था। एक मे वांछनीय सब-कुछ था। दूसरे में अवांछनीय को प्रसारित कर कला के प्रति हीनता, अश्रेय की सृष्टि सृजित की जा रही थी। हमारे कला-शिक्षकों व शिक्षार्थियों को अपने प्रदर्शन मे बहुत शीघ्र अब सजग हो जाना चाहिए कि वे अपनी कला का, विशेषकर ललित कला का, प्रस्तुतीकरण किस प्रकार करें। यदि इन्होंने कला के इस अग पर ध्यान नही दिया तो बहुत शीघ्र दुनिया उनकी कला के नाम से ही दूर भागने लगेगी।"

"यह थी कौन ?"

"इस मन्दिर में प्रायः दर्शनार्थ आती है।"

"परिचय ?"

"उसकी गरिमा को देखते हुए आज तक तो उससे किसी ने कुछ पूछा नही।"

"अभिमानिनी तो नही मालूम होती।"

"बिल्कुल नही।"

"कोई, अत्यन्त भाग्यशाली ही उससे परिचय और संपर्क की आशा कर सकता है।"

"इसमें कोई सन्देह नही।"

अजय ने आज मन्दिर के इस प्रशाल में सर्वत्र रतिप्रिया के प्रति ऐसे ही संवाद व शब्द सुने। उसका हृदय प्रसन्नता व उल्लास से भर गया। अपनी इस खुशी को रतिप्रिया के समक्ष व्यक्त करने की इच्छा उसमें तीव्रतर होती जा रही थी। आखिर कुछ ही क्षणों में वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ। सीधा घर गया। देखा, रतिप्रिया उसके ऊपर के कमरे मे बैठी पढ़ रही है। उसे देखते ही वह अपने स्थान से उठी। वह प्रकृतिस्थ थी। बोली, "आइये।" साथ ही एक सहज मुस्कान उसके चेहरे पर निखर आई। रतिप्रिया ने देखा कि अजय आज विशेष प्रसन्न

है। उसके चेहरे पर एक विशिष्ट अधीरता को भी प्रहसित देखा। बोली—

"क्या बात है ?"

"मन्दिर में आपके लिए जो सुना उससे हृदय प्रसन्न हो उठा।"

"बस ?"

"वह क्या कम बात है ? कितनों को ऐसी प्रशस्ति मिलती है ?"

"अनेकों को। अच्छे लोग सबकी तारीफ ही करते हैं।"

"ऐसी बात नही है।"

"बहुत-कुछ ऐमी ही बात है।"

"मैं जो कह रहा हूँ क्या उसका महत्त्व नहीं है ?"

'यही कि आप उनसे भी अच्छे है।"

"फिर न कहूँ ?"

"आप अवश्य कहिए। पर, मैं जानती हूँ कि आप क्या कहेंगे।"

"कैसे ?"

"इसलिए कि, आपके मन और हृदय को पहचानने लगी हूँ।"

"सचमुच ?"

"निश्चय ही।" और साथ ही उसने अजय के शाल को उसके कंधों से उतार कर अपने हाथ मे ले लिया। उसे खूटी पर रखते हुए वह बोली—

"अजय बाबू ! प्रत्येक पुरुप को नारी का सम्पर्क प्रकृतितः सुखकर होता है। दृष्टि, श्रवण, मस्तिष्क, हृदय, स्पर्श सब संपर्क उसके लिए सुखदायी हैं। और ये सब इसलिए कि वह अपनी उपस्थिति से प्रेय काम्य-किरणों के बिन्दुओं को अपनी देह-यंत्रिका से प्रस्फुटित करती रहती है। प्रकृति मे, सृष्टि में यह स्वभावतः होता रहता है। अनायास प्रकृति की यह प्रक्रिया संचालित रहती है। यौवन-काल मे यह और भी अधिक प्रभावी होती है। पुरुष, नारी के कैसे भी संपर्क की कैसी भी प्रशंसा करे मैं उसे स्वाभाविक तौर से ग्रहण करती हूँ। किसमे क्या, कहाँ, कितना, कैसे अच्छा है, यदि इसका निरूपण नही है तो वह एक समझदार व्यक्ति की प्रशंसा नहीं है।"

"यह बात नही थी, रतिप्रिये !···उन्होंने तुम्हारे सधे हुए शुद्ध स्वर, संस्कृत के शुद्ध उच्चारण, शब्दों की स्पष्टता व भावों की सहज अभिव्यक्ति की प्रशंसा की थी। तुम्हारी प्रस्तुति में परिश्रम जैसी कोई बात नहीं थी। इसके अलावा तुम्हारा चुनाव भी ठीक था। उत्सवों में, इस प्रकार के समारोहों में, मात्र प्रदर्शन होता है। और वही यदि सबसे अच्छा अवसर के उपयुक्त न हो, मात्र एक अभ्यास अथवा ज्ञान की शृंखला बन कर रह जाय, उपस्थिति का रंजन न करे तो वह एक कलाकार के चयन का दोष, उसकी भूल ही मानी जायेगी। श्रोताओं के स्तर के अनुकूल, उपस्थिति की ग्राह्य शक्ति, रुचि के अनुसार ही कलाकार को अपनी प्रस्तुति का चयन करना श्रेयस्कर रहता है। तुम्हारी प्रस्तुति मे वह सब था। अनेक अन्य उसके अभाव से ग्रसित थे।"

इतने मे ही मोहन चाय व नाश्ता लेकर आ गया। शीघ्र ही दोनों उसमें व्यस्त हो गए। बीच-बीच में अजय एक अर्थपूर्ण दृष्टि से रतिप्रिया को देख लेता था। उसकी यह दृष्टि उससे छिपी नहीं रही। अजय का मौन भंग करने के लिए उसने पूछा—

"कुछ कहना चाहते हैं?"

"सोचता हूँ।"

"फिर कहिये न!"

"अब तक साहस बटोर न सका हूँ।"

"कोई अप्रिय बात है?"

"मेरे लिये तो नही।"

"मेरे लिये अप्रिय है?"

"शायद, हाँ। शायद, नहीं भी।"

"अजय बाबू! जब आप अप्रिय नही हैं तो आपकी बात भी अप्रिय नही होनी चाहिये।" कुछ क्षणों के लिए कमरे में शान्ति छा गई। रतिप्रिया की दृष्टि अजय पर थी और अजय की अपनी चाय के प्याले पर। वह चुस्की नही ले रहा था। कुछ क्षण के शुद्ध मौन के पश्चात् उसने पूछा—

"रतिप्रिये! नारी के हृदय को कैसे जाना जाय?"

"उसके व्यवहार से ।"

"और यदि वह उसका आभास न दे ?"

"उससे प्रश्न करके ?"

"और प्रश्न करने का साहस न हो फिर ?"

"प्रतीक्षा करे ।"

"कब तक ?"

"जब तक साहस मे शक्ति न आ जाय ।"

"और वह कब तक आ जाती है ?"

"एक न एक दिन अवश्य आ जाती है ।"

"समय नहीं है ?"

"कमजोर पुरुष के लिए कोई समय निर्धारित नही होता ।"

"फिर मैं कमजोर हूँ । शायद बहुत कमजोर ।" पुनः कमरे में गम्भीर मौन की स्थिति कुछ क्षणों के लिए छा गई ।

रतिप्रिया ने उसे भंग करते हुए पूछा—"यहाँ के वातावरण से ऊब गए है ?"

"नही तो ।"

"बाहर जाना चाहते हैं ?"

अजय चुप था ।

उत्तर की उचित प्रतीक्षा के बाद उसने फिर पूछा—"कहिये न !"

"हाँ । पर, अकेला नही ।"

"ओह । परन्तु, किसके साथ ?"

अजय उत्तर न दे सका ।

कुछ क्षण की प्रतीक्षा के बाद रतिप्रिया ने ही पुनः प्रश्न किया—"मुझे साथ ले चलेंगे ?"

अजय की दृष्टि रतिप्रिया पर आरोपित हो गई । उसके चेहरे पर एक स्वाभाविक मुस्कान शोभित थी । कुछ क्षण के दृष्टि-मिलन के बाद वह बोला—"रतिप्रिये ! क्या वह सौभाग्य तुम मुझे दे सकती हो ? यदि वह मुझे मिल जाय तो जीवनभर मैं उसे सुरक्षित रखूँगा । सच मानो, प्रत्येक पुरुष के कथन की तरह मेरे वचन नही है । मैं जीवनभर तुम्हारे

संग को सहेजता रहूँगा। जीवनभर कभी तुमको अपने से दूर नहीं रखूँगा। जीवनभर तुम्हारी प्रत्येक इच्छा, आकांक्षा, भावना का आदर करूँगा। आज मुझे यह सब कहने का अवसर दिया, उसके लिए भी मैं जीवनभर तुम्हारा कृतज्ञ रहूँगा। परन्तु, रतिप्रिये! क्या तुमने यह सच कहा है ?" उसने देखा कि रतिप्रिया उसके वक्तव्य के बाद गम्भीर और मौन हो गई है। वह कमरे में टँगी तस्वीर की ओर इस समय देख रही थी। उसकी अपनी ही यह तस्वीर थी। उसने सुना—

"बोलो, रतिप्रिये!" कुछ क्षण की प्रतीक्षा के बाद अजय ने सुना—

'मैं सोचूंगी।"

"कब तक ?"

"जल्दी ही।"

"अभी नहीं ?"

"नहीं।"

"आज ?"

"शायद।" अजय ने देखा कि रतिप्रिया के होठों पर मधुर मुस्कान की एक हल्की-सी छाया दौड़ गई है। वह उठ कर नीचे अपने कमरे मे आ गई। अजय अपने आसन से उठकर कमरे में टहलने लगा। उसके चेहरे पर मुस्कराहट खेल रही थी।

आज रतिप्रिया अपने काम पर नहीं गई। दोपहर का खाना आज उसने अजय बाबू के कमरे में ही मोहन और उसकी माँ की उपस्थिति में खाया। वसन्त पंचमी त्यौहार का दिन होने के कारण अजय के कुछ मुलाकाती मिलने आ गये थे। रतिप्रिया व घर के अन्य सदस्य उनकी आवभगत व सत्कार में लगे रहे। राग-रग, शायरी, कविता व गोष्ठी मे दोपहर से शाम हो गई। संध्या की श्यामलता पृथ्वी पर घिरते-घिरते रतिप्रिया व अजय को अपने मेहमानों से छुट्टी मिली। एकान्त मिलते ही अजय ने रतिप्रिया से कहा—

"आज का दिन मेरे जीवन मे मेरी खुशी का एक विशिष्ट दिन है। मैं मेरी खुशी को, अपनी प्रसन्नता को, आज सुख मे परिवर्तित करना चाहता हूँ। इच्छा है, हम बाहर घूमने चलें। दूर, जंगल मे रेत के टीबों

पर। शान्त, एकान्त चाँदनी में बहुत-कुछ कहना है, पूछना है, सुनना है, आश्वस्त करना है। तुम्हारी सहमति से मेरे साहस मे वृद्धि होगी। सब कुछ कह कर अपने को हल्का करने मे मुझे सहायता मिलेगी। प्रार्थना को स्वीकार करो, रतिप्रिये !"

"मैंने इन्कार तो नहीं किया।"

"स्वीकार करो, रतिप्रिये !" उसके चेहरे पर साथ ही स्मिति छा गई।

"ठीक है।"

"ठीक है, नही। स्वीकार है; आज मैं स्वीकृति सुनना चाहता हूँ।" साथ ही उसने रतिप्रिया का हाथ पकड़ लिया।

"स्वीकार है, बाबा !" और वह अपना हाथ छुड़ा कर उससे दूर हो गई। अजय उसकी तरफ अपने स्थान से ही देखता रहा। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद वह बोला—"तुम तैयार हो जाओ। मैं सवारी ले आता हूँ। खाना-पानी साथ ही ले चलेंगे। माँ और मोहन यहीं रहेंगे।"

रतिप्रिया तैयार हुई तब तक गहरी संध्या पृथ्वी पर उतर आई थी। अजय भी ताँगा लेकर आ गया। उसने पानी की केतली, तौलिया, चद्दर, प्लेटें आदि आवश्यक सामान ताँगे मे रखवाया। मोहन और उसकी माँ को आवश्यक आदेश दे वे ताँगे मे बैठ कर चल दिए। रास्ते में उन्होंने खाने के लिए आवश्यक सामान खरीद कर लिया था। दो-तीन सुगन्धित पुष्पमालाएँ भी उन्होने खरीद कर ली।

प्रथम मंजिल उनकी वही सरस्वती का मन्दिर था। आज दोनों ने एक साथ प्रसाद और माल्यार्पण देवी सरस्वती के किया। फिर वे शक्ति के मन्दिर नागणेचीजी गए। वहाँ प्रसाद चढा कर उन्होंने परस्पर मे एक-दूसरे के गले मे माला डाल दी। फिर कुछ देर देवी की आरती सम्पन्न कर वे शिवबाडी के आगे टीबों मे चले गए। सडक पर उन्होने ताँगेवाले को उनका इन्तजार करने के लिए कह दिया।

चन्द्रमा की किरणें बालू के टीबों पर अपना सौन्दर्य प्रसारित करने लगी। हल्की निर्मल चाँदनी मे रेगिस्तान के बालू के ये टीबे अपना सौन्दर्य प्रदर्शित व प्रसारित करने लगे। ऊपर आकाश तारों से जगमगा

रहा था। बालू का प्रत्येक कण हवा के झोंके के साथ अपना अस्तित्व चमका कर प्रकट करने लगा। दूर छोटी झाड़ियों में खिले वन फूलों की महक से वातावरण सुरभित था। हल्की शीतलता में उनकी मादकता और भी अधिक मोहक व प्रभावशील हो रही थी। थोड़ी-थोड़ी देर में मोरों के गम्भीर स्वर से सारा जगल तरगित हो उठता था। दूर-दूर तक शान्ति का साम्राज्य था।

अजय और रतिप्रिया एक सफेद चद्दर पर पास-पास बैठे थे। कभी-कभी मिष्ठान्न का छोटा-सा कौर वे एक-दूसरे के मुँह मे देते थे। बात-चीत चल रही थी। अजय ने पूछा—

"तो तुम मेरी पत्नी से परिचित हो ?"

"शायद, वह मेरी बहिन थी।"

"शायद क्यों ?"

"शायद इसलिए कि हम तीनों कभी एक साथ नही रहे।"

"यह सही है।"

"आप कहते है कि मेरी शक्ल उससे बहुत मिलती है ?"

"निश्चय ही।"

"जो जगह आपने कलकत्ते मे बताई वहीं हम रहते थे।"

"वहाँ वापस चलना पसन्द करोगी ?"

"बिल्कुल नही। और फिर किसके पास ? कौन है वहाँ मेरा ? वे ही कुछ होते तो हमें किसी अन्य के साथ भागने पर मजबूर थोड़े ही होना पड़ता।" अजय सुनकर चुप हो गया।

"जीवन के प्रति तुम्हारा क्या दृष्टिकोण है, रतिप्रिये ?"

"जीवन जीने के लिए होता है, अजय बाबू ! सम्भव हो तो जीवन के प्रत्येक क्षण में इन्सान को जीना चाहिये।"

"जैसे ?"

"जीवन में ही इन्सान बुरे से अच्छा होता है, दुखी से सुखी होता है, अपमानित से सम्मानित होता है, गरीब से धनवान होता है। इसी से जीवन महत्त्वपूर्ण है, अजय बाबू ! इसका प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है। परन्तु, उसके लिए ही जो जीवन को महत्त्व देता हो; वर्तमान को, उसके

प्रत्येक क्षण को अपने जीवन की मंजिल की ओर नियोजित करता हो।"

"जब तुम्हारे पुरुष ने तुम्हे छोड़ दिया तो तुम्हें कैसा लगा ?"

"यह उसकी विवशता थी।"

"तभी तुम वापस घर लौट जाती।"

"फिर वही बात ! किसके पास ?"

"ओह।"

"अजय बाबू ! लौटती भी तो उस घर, समाज मे मैं इज्जत न पाती। जहाँ लोगों की नजरें अपमान की दृष्टि से देखती हों, अच्छा यही होता है कि उस स्थान को ही छोड देना चाहिये।"

"एक बात पूछूँ ?"

"निश्चय ही।"

"तुम्हारा-मेरा संग छूट जाय फिर क्या होगा ?"

"*भविष्य अभी पैदा नही हुआ है। आज, अभी हम साथ हैं, यह* मेरे लिए पर्याप्त है। कल जो बीत गया, उसके लिए मैं चिन्ता नही करती। कल जो आयेगा वह अभी पैदा ही नही हुआ। काल के एक प्रवाह मे हम साथ हैं इतना ही मैं जानती हूँ। कौन कितना साथ देगा, कितना साथ रहेगा यह हमारी चिन्ता का विषय नही रहना चाहिये। मैं आपको दुखी करके कभी आपके साथ नही रहूँगी; न दुखी होकर ही रहूँगी। पारस्परिक संवेदनशीलता के माध्यम से ही हम अपने जीवन को एक-दूसरे के साथ संयोजित कर सकते हैं। उसको यदि हम सम्भव बना सकें तो हमे भविष्य के लिए भी आश्वस्त रहना चाहिये।"

"क्या तुम्हारा पूर्व-पुरुष तुम्हारे साथ अच्छा था ?"

"निश्चय ही। बल्कि बहुत अच्छा।"

"क्या मैं उसके स्तर पर आ सकूँगा ?"

"आप उससे भी अच्छे हो।"

"सच ?"

"निश्चय ही।" सुन कर, अजय ने रतिप्रिया को अपनी ओर खींच लिया। अपने वक्ष से उसके वक्ष को दबाते हुए उसने उसके कपोलों पर एक विलम्बित चुम्बन रख दिया। कुछ क्षण की सुखप्रद चुप्पी के बाद

उसने पूछा—

"रतिप्रिये ! पुरुष का नारी के जीवन में क्या महत्त्व है ?"

"जीवन मे वह उसका सम्बल है, अजय बाबू !"

"क्या उसके बिना वह नही रह सकती ?"

"नहीं, अजय बाबू ! प्रत्येक नारी के एक पुरुष होता ही है। वैसे ही, एक पुरुष के भी एक नारी होती ही है—हृदय मे; विचार में। अनेक बार तो एक बालक को अपना आश्रय बना कर एक नारी अपना जीवन गुजारती है। पौरुष, पुरुष चाहे वह बालक ही क्यों न हो, नारी के जीवन का सम्बल है। उसके बिना वह अरक्षित है। उसे पाकर ही वह सबल होती है, शक्तिशाली बनती है।"

"तुम्हें यह एहसास कब हुआ ?"

"घर से बिछुड़ते ही।"

"फिर ?"

"जो आश्रय मिला उसे अपना लिया।"

"आज भी वही परिस्थिति है ?"

"निश्चय ही. अजय बाबू !"

"मतलब ?"

"एक भौरा, अच्छा होते हुए भी संसार के सारे फूलों का चुम्बन नही कर सकता, न उनका रस ही पान कर सकता है। उसी प्रकार एक पुरुष संसार की सारी स्त्रियों से संपृक्त नही हो सकता। न नारी ही संबल रूप मे सब पुरुषों को प्राप्त कर सकती है। प्रकृति स्वत: ही एक को दूसरे से मिलाती चलती है। एक स्तर, एक भाव, एक विचार के व्यक्ति जब परस्पर मे मिलते हैं तो उनका मिलन सुखद होता है। यही तो नारी के लिए अपने पुरुष और पुरुष के लिए अपनी नारी का सत्य है। रतिप्रिया और अजय बाबू का मिलन भी इसी सत्य की एक घटना है। जीवन मे एक होकर यदि वे साथ चल सकें तो उनका जीवन सफल होगा। अलग-अलग रास्ते अपनाकर वे साथ नही चल सकते।"

"मुझ पर विश्वास है, रतिप्रिये ?"

"क्यों नहीं ?"

"मुझमें तुमने क्या देखा ?"

"प्रिय सूरत, प्रिय स्वभाव, उदारता, त्याग, उत्साहित जीवन के प्रति रुचि, समर्पण, मधुर भाषण।"

"और ?"

"संयम।"

"रतिप्रिये ! तुम बहुत मधुर हो। इतनी मधुर कि मैं उसका पूर्ण आस्वादन करने में भी असमर्थ हूँ।" पुनः उसने उसे अपने वक्ष से चिपका लिया। रतिप्रिया समर्पित-सी उसके वक्ष से चिपकी रही। उसने सुना—

"ओह ! मैं कितना भाग्यशाली हूँ।" —कुछ क्षण मौन मे बीत गए। अजय चाँदनी मे रतिप्रिया की सौन्दर्य-आभा को अपनी तल्लीनता मे देखता रहा। —इसी समय उसके लंबे बाल बिखर कर उसके चेहरे और वक्ष पर आ गये थे। क्षीण, निर्मल चाँदनी मे जब वह पड़ी हुई तो जंगल की आभा उसे गर्वित व अनुपम दिखाई दी। पुनः मोरों के स्वर ने जंगल को तरंगित कर दिया। सुरभित मादक पवन रह-रहकर रतिप्रिया के वस्त्रों व बालों से अठखेलियाँ करने लगा।

उसने उसकी हथेली अपने हाथ मे ले ली। दोनों का दृष्टिमिलन हुआ। अजय की अर्थभरी मुस्कराहट को लख रतिप्रिया ने पूछा—

"कुछ पूछना चाहते हैं ?"

"सोचता हूँ क्या वह ठीक होगा।"

"क्यों नहीं ? पति-पत्नी के बीच छिपाव क्या ?"

"तुमने एक दिन कहा था कि नारी काम का आगार है।"

"अवश्य। तात्पर्य इतना ही था कि उसके शरीर में विस्तृत काम को केन्द्रित करने की रति के पूर्व आवश्यकता होती है। पुरुष का काम, उसकी ऊर्जा, उसकी काम-शक्ति प्रकृतितः एक स्थान पर केन्द्रित होती है, रहती है इसीलिए वह विशिष्ट काम-प्रक्रिया के लिए बहुत उतावला, अति गतिशील होता है। एक बार वेण्यदत्त के दरबार में एक नारी नग्न अवस्था मे आई। बोली, 'तुम सब हिजड़े हो।' सभासद् अवाक् रह गये। कवि कोक ने वेण्यदत्त से आज्ञा चाही कि वह उसे, उसके उन्माद को ठीक कर सकता है। आज्ञा मिलने पर वह उसे अपने घर ले गया। वराह-

मिहिर के *चन्द्रकला-सिद्धान्त का उस पर प्रयोग किया।* शरीर मे फैले हुए काम-उन्माद को चुम्बन, आलिगन, रमण आदि से विशिष्ट काम-स्थल पर केन्द्रित किया। कामतृप्ति के बाद वह रमणी सलज्जा होकर दरबार मे आई। वस्त्रों से आवरित थी। मुंह पर घूंघट था। यह था कोक कवि के यौन ज्ञान का चमत्कार।' इसीलिए कहती हूँ पुरुष अति गतिशील होता है।"

"किसमें !"

"विशिष्ट काम की प्रेरणा में, क्षरण में भी।"

"और नारी ?"

"उसे अपने सम स्तर पर लाने के लिए उसे यानि पुरुष को एक भूमिका निभानी चाहिए अथवा निभानी पड़ती है।"

"और वह भूमिका क्या है ?"

"ओह ! ...चुम्बन, आलिंगन, परिरंभन की।"

"उनके भी क्या प्रकार हैं, प्रिये ?"

"अवश्य, अजय बाबू !"

"जैसे ?"

"*शास्त्रों में चुम्बन का अभिप्राय चूमन से है। —उनका स्थान* आँखें, गर्दन, कपोल, मसूड़े, वक्ष, जिह्वा, होंठ, उरोज आदि-आदि हैं।"

"बस ?"

"काम में, उसकी भूमिका में 'इति' कहीं नहीं है। लटा में और भी अनेक स्थलों का चुम्बन में प्रयोग प्रादेशिक रीति के अनुसार किया जाता है जैसे काँख, नाभि, उसका निम्न स्थल आदि-आदि। नारी और पुरुष के गुह्यतम अंगों को भी आवेश के उन्माद मे चुम्बन और उसकी पकड़-जकड से वंचित अथवा अछूता नही छोड़ा जाता। यह सब शास्त्रों में उल्लिखित व कला-कृतियों में प्रदर्शित व चित्रित है।"

"जैसे ?"

"सार्थक रूप से तो घर चलकर ही मैं उन्हें आपको दिखा सकती हूँ। मेरी पुस्तिका में वे सब यथारूप चित्रित हैं।"

"बस ?" —और साथ ही अजय ने अपने हाथ की पकड़ उसकी

हथेली पर अधिक सशक्त कर दी। पुनः एक अर्थपूर्ण दृष्टि-मिलन हुआ। अजय ने एक विलम्बित चुम्बन रतिप्रिया के कपोलों पर अंकित कर दिया। पलभर की चुप्पी के बाद रतिप्रिया ही बोली—

"अजय बाबू! भारतीय कामशास्त्र यौन सम्बन्धों व उसकी प्रक्रियाओं में बहुत अधिक सम्पत्तिशील है। पन्द्रह प्रकार के चुम्बनों में प्रत्येक की अपनी भूमिका विशिष्ट है।"

"जैसे?"

"निमित्तक चुम्बन में पुरुष नारी को अपने होठों पर उसके होठों को लगाने के लिए विवश करता है। स्फुरितक वह चुम्बन है जब नारी अपने अधर को अधखिली कली के रूप में चुम्बन-प्राप्ति के लिए पुरुष को अर्पण करती है। घट्टितक रूप में दोनों के ओष्ठ-मिलन के बाद नारी की जिह्वा पुरुष के मुँह में प्रवेश करती है। क्योंकि कुमारिका स्वभावतः लज्जाशील होती है इसलिए वह ऐसे प्रसंग में पुरुष के नेत्रों को अपनी हथेली से ढँक देती है। पुरुष नारी की ठोड़ी को ऊपर उठाकर दाएँ-बाएँ उसे घुमा-घुमाकर उसके अधर को जब चूमता है ऐसे चुम्बन को 'भ्रान्त' की संज्ञा शास्त्रकारों ने दी है। निश्चय पार्श्व में चुम्बन की प्रक्रिया है। इन दोनों में जब पुरुष अपने दाँतों का प्रयोग करता है तो वे पीड़ितक बन जाते हैं; परन्तु यह पीड़ा मादक, सुख-प्रवाहिनी होती है। उत्तरोष्ठ चुम्बन में ऊपर के ओष्ठ का चुम्बन होता है। दोनों ओष्ठों को साथ पकड़कर एक साथ उनका चुम्बन हो तो वह सम्पुट की परिभाषा में आता है। ऐसे प्रसंग में जिह्वा युद्ध भी परिस्थिति से परिचय व मधुर होती है। पद्मश्री ने इसके सिवाय भी चुम्बनों को परिभाषित किया है। दृष्टि, प्रमाद, व कदि उनके अनुसार चुम्बनों के भेद हैं जब जिह्वा चुम्बन की प्रक्रिया में नारी के मुँह में अपने रंग खेलती है।"

दर्पण अथवा चित्र को चुम्वित करना नए प्रेम का द्योतक व प्रदर्शन है। इसी प्रकार मूर्ति और किसी शिशु को चूमना सक्रान्त चुम्बन की परिभाषा मे आता है। इनका नामकरण ही इस वात का प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय किस प्रकार यौन की विभिन्न प्रक्रियाओं को अपने सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन मे महत्त्व देते थे।"

ज्यों ही रतिप्रिया मौन हुई, अजय ने कस कर उसे अपने अंक में दबा लिया। सपुट की प्रक्रिया परिभाषित व सार्थक हुई। कुछ ही क्षणों मे आलिगन पर चर्चा उनके बीच प्रारम्भ हो गई। अजय ने पूछा—

"और प्रारम्भ ?"

"प्यार की प्रक्रिया का प्रारम्भ स्पर्श, घर्षण व आलिगन से होता है। आँखें जव प्रेमी-प्रेमिका को एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त कर देती है तभी इस प्रक्रिया का प्रारम्भ प्रायः होता है। समाज में अवसर प्राप्त होने पर किंचित् स्पर्श, अँधेरा अथवा एकान्त-प्राप्ति पर पारस्परिक अंग-घर्षण, सुरक्षित स्थान पर आलिगन बढ़ते हुए युगल प्रेम की भूमिका है। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए काम-प्रसंग मे बारह प्रकार के आलिगन काम-शास्त्रियों ने स्वीकार किये हैं।"

"जैसे ?"

"सभी कुछ अभी जानियेगा ?"

"अभी नही। —कुछ अभी यहाँ; कुछ घर पर। —सम्पूर्ण अध्याय को तो जानना ही होगा।" —पुनः दोनों पारस्परिक पाश में बँध गये। मुक्त होने के बाद रतिप्रिया वोली—

"अजय बाबू! अपने किसी अन्य काम के लिए निकली हुई नारी का जब पुरुष स्पर्श करने का अवसर लेता है तो उसे स्पर्शत्तक आलिगन कहते हैं। किसी समूह में साथ चलते अथवा अँधेरे में रहते वे यदि एक-दूसरे के अंगों को कई बार विलम्ब तक रगड़ें तो वह उद्घृष्टक आलिगन कहलाएगा। ऐसे ही अवसर पर यदि कोई किसी को दीवार से दवा दे तो उसकी संज्ञा पीडित्तक होगी। यदि खड़े या बैठे पुरुष से दृष्टि-मिलन करती हुई नारी उसे अपने बाहुपाश में बांधेगी अथवा उससे लिपट जायगी तो वह उसका विद्धकाज्य आलिगन होगा। खजुराहो

के पत्थरों पर यह आलिंगन बहुलता से उत्कीर्ण है। ये चार प्रकार के आलिंगन एक-दूसरे को प्रेम-प्रसंग में प्रवृत्त करने की सूचना मात्र हैं। परन्तु जिनके प्रेम की घोषणा हो चुकी उनकी प्रक्रिया भिन्न है।"

"जैसे?"

"वे विशिष्ट प्रेम की भूमिका व उसके प्रसंग के परिचायक हैं, अजय बाबू!"

"वही तो जानना चाहता हूँ।"

"सब अभी?" पुनः हल्की स्मिति उसके होंठो पर खेल गई।

"अभी मात्र भूमिका।"

"जो विशिष्ट काम का रसास्वादन पहले कर चुके हैं उनके लिए यह भूमिका है, अजय बाबू! लतावेष्टितक आलिंगन मे नारी अपने पुरुष को इस प्रकार अपने पाश में बांधती जाती है जैसे एक लता एक पेड को अपने विकास मे आवृत्त करती रहती है। 'सीत्कार' के महामन्त्र का उच्चारण ऐसे अवसरों पर उसके उन्मादित यौन का परिचायक है। वृक्षाधिरूढ मे नारी वृक्ष पर चढती हुई लता का रूप धारण करती है। आलिंगन की इस मुद्रा में उसका एक हाथ पुरुष की कमर मे व दूसरा उसके कन्धे पर होता है। अपना एक पाँव प्रेमी के पाँव पर व दूसरा उसकी कमर पर वह चढ़ा देती है। खड़े हुए युगल ही इस आलिंगन का रस लूट सकते हैं। बाकी छह मुद्राएँ शयन-अवस्था की हैं। तिलिन्दुलक में हाथ और जाँघें परस्पर में आवेष्टित रहती हैं। जब नीर-क्षीर के समान युगल संपूर्ण अंगों की पारस्परिक एकता का, घनिष्टता का अनुभव करता है वह आलिंगन की नीर-क्षीर अवस्था है। उरूपगहन में मात्र युगल के जाँघों की प्रतिबद्धता होती है। जघतोपगुहन में नारी की उन्माद-प्रियता प्रलक्षित होती है। अपने आवेश मे उसके केश, वस्त्र, गहने, शृंगार सब अस्त-व्यस्त हो जाते हैं और वह अपने प्रेमी को चुम्बनों से, दाँतो से, नखो से क्षत-विक्षत करने मे आनन्द लेती है। उसकी यह आक्रामकता ही उसकी सवेग-तुष्टि है। स्तनालिगन मे नारी अपने वक्ष और उरोजों की घनिष्टता, दबाव व भार की अनुभूति अपने प्रेमी को कराती है। लालातिका वह आलिगन है जब युगल की आँख से आँख, मुँह से

मुंह, वक्ष से वक्ष, घात-प्रतिघात, आघात-प्रत्याघात पल-पल में करते रहते हैं। ये चुम्बन और आलिंगन ही नारी और पुरुष के समभाव में आने की, उसमें पहुँचने की प्रेरक परिस्थितियाँ व स्थितियाँ हैं जिनके बिना संभोग सुखकर व सफल नहीं हो सकता।"

"और ये बन्ध ?"

"मालूम होता है आपने मेरे बहुत-कुछ साहित्य का अवलोकन कर लिया है।"

"इसी से तो पूछता हूँ।"

"अजय बाबू ! बन्ध और आसन एक-सी संभोग-स्थिति के दो नाम हैं। नारी और पुरुष की स्थूलता और लघुता, उनके अंगों के आकार-प्रकार पर इनकी रचना शास्त्रकारों ने की है। युगल प्रेमियों के बीच कोई निषेध, निरोध, अवरोधन नहीं रहना चाहिए। उनके बीच किसी प्रकार की अन्तर्बाधा समागम के समय किसी के लिए रुचिकर, हितकर, सुखकर नहीं हो सकती। परस्पर में सम्पूर्ण समंजन, समायोजन ही उपादेय हैं। बन्ध अथवा आसन युगल के लिए, विशिष्ट काम के लिए समायोज्य योजना है। यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर है कि वह किस प्रकार अपनी संतुष्टि चाहता है, करता है। परन्तु प्रत्येक प्रेमी अथवा प्रेमिका के लिए आवश्यक है कि वह अपने शय्या-साथी का प्रेरक व सहायक हो। किसी युगल के लिए किसी प्रकार का अवरोधन अथवा अन्तर्बाधा क्रीडास्थली पर क्रीड़ा के समय सुफलदायक नहीं हो सकती।"

"क्या यह सब शिक्षा इसी तरह तुम अपनी शिष्याओं को देती हो ?"

"निश्चय ही। दी है और देती हूँ।"

"और वे सुनती हैं ?"

"बड़ी दिलचस्पी से।"

अजय चुप हो गया।

उसने सुना—"अब चलें। अपनी बातों का अन्त नहीं है। शेष घर पर करेंगे। माँ प्रतीक्षा करती होगी।"

"जैसी इच्छा।"

"और ठहरना चाहते हैं ?"

"नहीं तो ! ...एक बात पूछूं ?"

"अवश्य ।"

कुछ विरमकर अजय ने पूछा—"आज शयन कहाँ होगा ?"

"अतिथि के मन्दिर में ।"—अजय ने पुनः उसे पकड कर चुम्बनो की बौछार कर दी । उसने सुना—

"अंश देकर सर्व प्राप्त नही किया जा सकता, अजय बाबू ! सर्व-समर्पण करके ही सर्वस्व-प्राप्ति की आशा की जा सकती है । हृदय के अर्पण मे नारी व्यापार नही करती । व्यापार को समझने मे भी उसे देरी नही लगती ।"

कुछ ही समय मे अपने साथ का सामान बटोर कर वे ताँगे पर आ गये । पंचमी का चाँद शनैः-शनैः अपने अस्ताचल की ओर प्रयाण कर गया था । मन्दतर होती हुई चन्द्रिका मे अब दूर की चीजें स्पष्ट दिखाई नही दे रही थी । नगर की रोशनी की जगमगाहट, ज्योंही वे कुछ ऊँची जमीन पर आए, उन्हे दिखाई देने लगी । शीघ्र ही वे अपने घर आ गये ।

रात्रि अपने मध्य मे पहुँच गई थी । मोहन और उसकी माँ उनकी प्रतीक्षा में अभी जाग रहे थे । उनके पहुँचते ही उन्होने ताँगे का सामान घर में रखा । अजय ने यथा-माँग ताँगेवाले को चुकता कर दिया । रतिप्रिया पहुँचते ही प्रसाद बाँटने लगी । उसने माँ से कहा कि उसने अजय बाबू से आज विवाह कर लिया है । मोहन और उसकी माँ दोनों प्रसन्न व प्रहसित हो उठे । माँ बोली—

"आज मेरी साध पूरी हुई । अजय बाबू ! रतिप्रिया जैसा नारी-रत्न लाख ढूँढने पर भी नही मिलता । बधाई तो लाख-लाख आपको देती हूँ । साथ ही ईश्वर से कामना करती हूँ कि आपकी जोडी सदा बनी रहे । आप मेरी बिटिया के हृदय को कभी न दुखाना । बस, यही माँग मैं आपसे आज करती हूँ ।" इसके बाद दोनों माँ-बेटे घर के काम मे व्यस्त हो गए । माँ ने दोनों के सोने का कमरा ठीक कर दिया । उसने घर में रखी देवी-देवताओ की मूर्तियों पर फूल चढाए । धूप-दीप किए । प्रार्थना की ।

रतिप्रिया ने अपने कमरे में आकर देवी सरस्वती की पूजा की। फूल, कुमकुम, धूप-दीप अर्पण किया। प्रसाद चढ़ाया। फिर उसने एक शीशे के समीप बैठकर अपना श्रृंगार किया, वस्त्र परिवर्तित किये, सज्जा-क्रम को सुरभित किया। एक कटोरी मे रोली लेकर वह अजय के पास गई। संकेत समझ उसने उसकी माँग भर दी। रतिप्रिया ने तिलक कर दिया। फिर झुक कर उसने अजय के पाँवो को पकड़ लिया। अजय ने उसे उठाया। देखा तो, रतिप्रिया की आँखों में आँसू छलक रहे थे। अपने हाथों से उसने उन्हें पोछा। फिर बाहो में पकड़ कर वह उसे चूमने लगा। एक विचित्र हलचल दोनों में व्याप्त थी। उद्वेगों की उन हरकतों को, आवेश की उन प्रतिक्रियाओं को केवल भोगा ही जा सकता है कहा नही जा सकता, न लिखा ही जा सकता है। प्रकृति की, सृष्टि की माँग जो पूरी होने जा रही थी।

□ □ □